शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष: 13 अंक 72 (मूल क्रमांक 129)
जुलाई-अगस्त 2020 मूल्य: ₹ 50.00

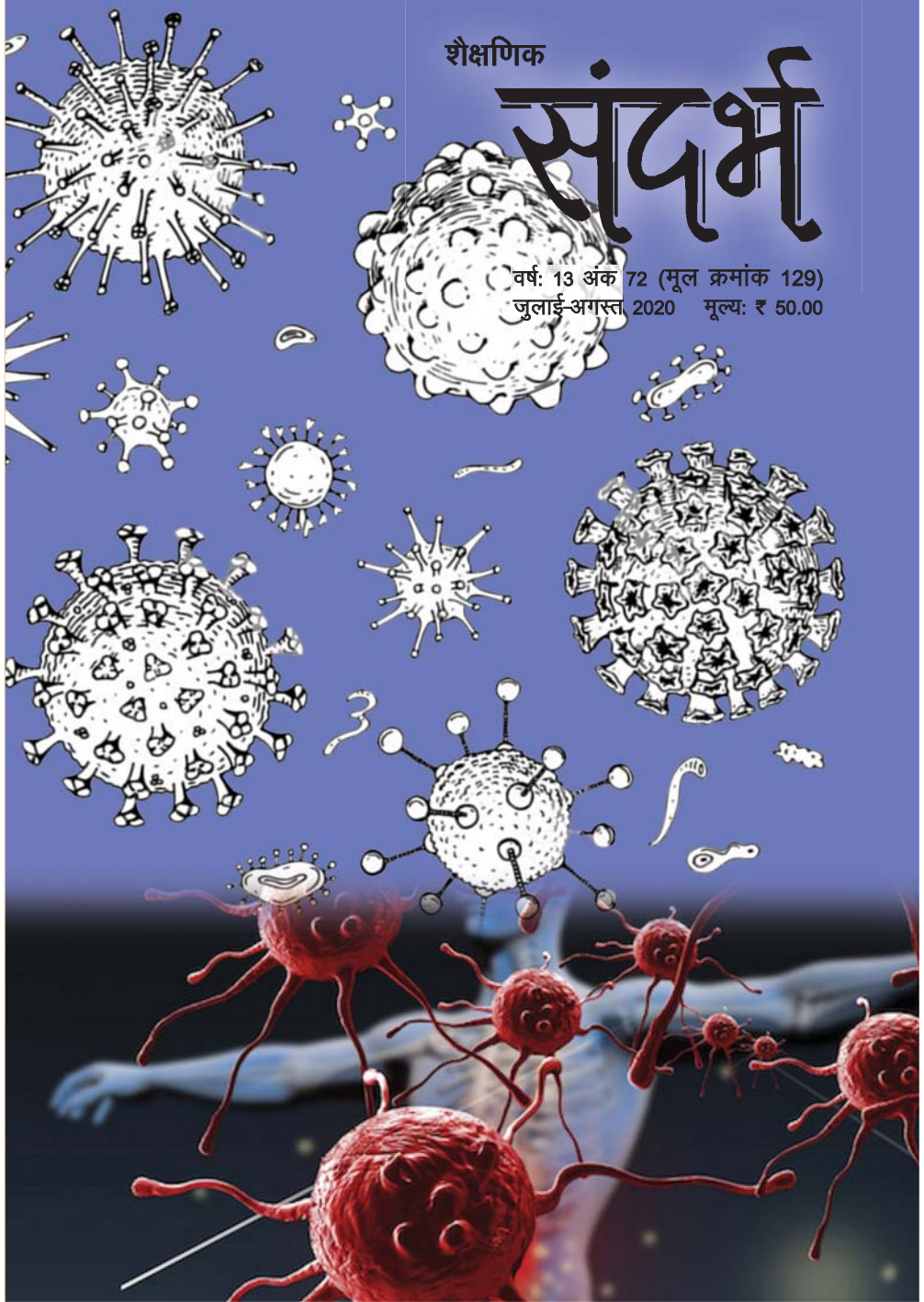

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर

सहायक सम्पादक
पारुल सोनी
कोकिल चौधरी

सम्पादकीय सहयोग
विनता विश्वानाथन
सुशील जोशी
उमा सुधीर
सत्यजित रथ
चारुदत्त नवरे

आवरण
राकेश खत्री

वितरण
झनक राम साहू

सहयोग
कमलेश यादव

शैक्षणिक
संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
वर्ष: 13 अंक 72 (मूल क्रमांक 129)
जुलाई-अगस्त 2020

मूल्य: ₹ 50.00

एकलव्य फाउण्डेशन
जमनालाल बजाज परिसर
जाटखेड़ी, भोपाल-462 026 (म.प्र.)
फोन: +91 755 297 7770, 71, 72, 73
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन: sandarbh@eklavya.in
वितरण: circulation@eklavya.in

अब *संदर्भ* आप तक पहुँचेगी रजिस्टर्ड पोस्ट से
इसलिए सदस्यता शुल्क में वृद्धि की जा रही है।

सदस्यता शुल्क	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
	450.00	1250.00	8000.00

मुखपृष्ठ: विषाणु: उधार की ज़िन्दगी (जीने वाले) या फिर जैव-विकास के अनोखे खिलाड़ी वायरस अपने आप प्रजनन नहीं कर सकते किन्तु जब ये एक अतिसंवेदनशील कोशिका को संक्रमित करते हैं तो उस कोशिका की यंत्रावली को अधिक वायरस उत्पन्न करने के लिए निर्देशित कर सकते हैं। ये कई शोधकार्य में भी महत्वपूर्ण रहे हैं जैसे प्रोटीन संश्लेषण की यांत्रिकी, बुनियादी सेल्युलर प्रक्रियाओं की समझ इत्यादि को समझने में। आइए, पृष्ठ 07 पर लेख के साथ करते हैं वायरस की अद्भुत दुनिया की सैर।

पिछला आवरण: हाथ धोने को लेकर हाल के कोरोना वायरस प्रकोप के प्रकाश में, सार्वजनिक स्वास्थ्य दिशा-निर्देश लगातार इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि उचित तरीके से हाथ धोना ही हमारे हाथों से कीटाणुओं और हानिकारक जीवाणुओं को हटाने का सबसे प्रभावी तरीका है। हाथ धोने की अवधारणा के बारे में समझने के लिए पढ़ते हैं लेख पृष्ठ 21 पर।

यह अंक त्रिवेणी एजुकेशनल ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है।

LINKS
Cover 3. https://www.scientificamerican.com/podcast/episode/virus-infected-bees-practice-social-distancing/
4. https://www.medicalert.org.uk/news/2020/02/21/hand-washing

शैक्षणिक

संदर्भ

"संदर्भ अब रजिस्टर्ड डाक से
यानी आप तक पहुँचना सुनिश्चित।"

संदर्भ की सदस्यता दर बढ़ाई जा रही है ताकि *संदर्भ* रजिस्टर्ड डाक द्वारा आप तक भेजी जा सके

एक प्रति का मूल्य 50 रुपए

सदस्यता शुल्क

एक साल
450 रुपए

तीन साल
1250 रुपए

आजीवन
8000 रुपए

प्रति बाउंड वॉल्यूम
300 रुपए

ई-मेल: pitarakart@eklavya.in
वेबसाइट: www.pitarakart.in

विषाणु: उधार की ज़िन्दगी या फिर...

आम तौर पर हम वायरस के बारे में ज़्यादा सोच-विचार नहीं करते। लेकिन इस बार कोविड-19 जो कोरोना नाम से ज़्यादा प्रचलित है – ने वायरस के बारे में सोचने-समझने पर मजबूर कर दिया है। कहने को वायरस अपने आप प्रजनन नहीं कर सकता किन्तु जब यह एक अतिसंवेदनशील कोशिका को संक्रमित करता है तो उस कोशिका की यंत्रावली को अधिक वायरस उत्पन्न करने के लिए निर्देशित कर सकता है। मुख्य रूप से, वायरस संसर्ग यानी सम्पर्क के माध्यम से फैलने के लिए जाने जाते हैं। वायरस जनित बीमारी के फैलाव और मृत्यु की व्यापक घटनाओं के कारण इस तरह की प्रतिष्ठा पर कोई सन्देह नहीं रहता।

हालाँकि, इस तरह के वायरस निश्चित रूप से वैज्ञानिकों और चिकित्सा पेशेवरों के लिए विकट शत्रु हैं, परन्तु ये बहुत-सी मूलभूत शोध में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे हैं जैसे प्रोटीन संश्लेषण की यांत्रिकी, बुनियादी सेल्युलर प्रक्रियाओं की समझ इत्यादि को जानने-समझने में। आइए, करते हैं वायरस की अद्‌भुत दुनिया की सैर।

07

हाथ धोने को लेकर

हाल के कोरोना वायरस प्रकोप के प्रकाश में, सार्वजनिक स्वास्थ्य दिशा-निर्देश लगातार इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि उचित तरीके से हाथ धोना ही हमारे हाथों से कीटाणुओं और हानिकारक जीवाणुओं को हटाने का सबसे प्रभावी तरीका है। अक्सर संक्रमण को रोकने के लिए, डॉक्टर हाथ की स्वच्छता का अभ्यास करने का सुझाव देते हैं। आज के दौर में, वायरस संक्रमण के डर से ही सही, काफी लोग हाथों की सफाई को महत्व दे रहे हैं।

चिकित्सा सेवाओं में काम करने वाले लोगों के हाथ धोने को लेकर क्या अनुभव रहे हैं - क्या चिकित्सालयों में सभी लोग आसानी-से हाथों को सेनेटाइज़र से बार-बार साफ करने के लिए तैयार हो गए थे? इस लेख में हम चिकित्सा विज्ञान के इतिहास में हाथों को साफ रखने के महत्व और उसके लिए जो जद्‌दोजहद हुई, उसके बारे में जानेंगे।

21

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-72 (मूल अंक-129), जुलाई-अगस्त 2020

इस अंक में

04 | आपने लिखा

07 | विषाणु: उधार की ज़िन्दगी या फिर जैव-विकास...
चेतना खांबेटे

21 | हाथ धोने को लेकर
अतुल गवांडे

37 | प्लेग का टीका, हाफकिन और बोतल नम्बर 53 N
माधव केलकर

45 | QED - सत्य की तलाश: भाग-3
शेषागिरी केएम राव

61 | प्रकाश की गति, ईथर और सटीक मापन: भाग-3
अंजु दास मानिकपुरी

73 | होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में कमल-नयन...
कालू राम शर्मा

79 | एक दिन मन्ना डे
कुमार अंबुज

88 | पानी के बिना जीवित क्यों नहीं रह सकते हैं?
सवालीराम

आपने लिखा

संदर्भ अंक-128 उलट-पलट कर देखा। संजय गुलाटी का लेख *मातृभाषा आधारित बहुभाषी शिक्षा क्यों लाज़मी?* अच्छा लगा। छत्तीसगढ़ का अनुभव लगभग पूरे देश का अनुभव है। इस लेख की रोशनी में आप जबरन अँग्रेज़ी लादने की कल्पना कीजिए! जब छत्तीसगढ़ के बच्चे को हिन्दी में कही बात को समझने में दिक्कत आती है तो अँग्रेज़ी समझने में कितनी दिक्कत आती होगी! दिल्ली के अनुभव बड़ी तकलीफ देते हैं, विशेषकर, ऊँची फीस वाले अँग्रेज़ी के निजी स्कूलों में इकोनॉमिकली वीकर सेक्शन के बच्चे जिस ढंग से धीरे-धीरे अपना आत्मविश्वास खोते जाते हैं, वह शिक्षा की एक अलग क्रूरता है। लेकिन कुछ राजनीति, कुछ अँग्रेज़ी की मुख्यधारा में शामिल होने का लालच... अंजाम मासूम बच्चों को भुगतना पड़ता है। छठी क्लास से तो यह मंज़ूर हो सकता है लेकिन इतने छोटे बच्चों पर तो इसका नुकसान ही ज़्यादा है। विशेषकर, जब उनके माँ-बाप मुश्किल से हिन्दी जानते हैं। इस अँग्रेज़ी को सीखने के चक्कर में उन्हें कई ट्यूशन लगानी पड़ती हैं। मज़दूरों का पैसा इस अँग्रेज़ी की ट्यूशन में ही बर्बाद हो जाता है। दोहरी-तिहरी मार और अंजाम ज़्यादातर मामलों में वही - शून्य के बराबर। वे बिहार, छत्तीसगढ़, यूपी की बोलियाँ, भाषाएँ जानते हैं। काश बच्चों को इन भाषाओं का सहारा मिलता, बजाए विदेशी भाषा के। यह तो आप भी मानेंगे कि भारतीय भाषाएँ, बोलियाँ एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक हैं। इस पर विचार करने की ज़रूरत है।

प्रेमपाल शर्मा,
दिल्ली

संदर्भ अंक-128 मेल से प्राप्त हुआ। मोबाइल में पढ़ने की तकलीफ के बावजूद श्री संजय गुलाटीजी का सम्पूर्ण लेख पढ़ पाया। बहुत अच्छा और सराहनीय लगा। छत्तीसगढ़ के घने जंगल में धुरवा जनजाति के बच्चों से सामान्य प्रश्न पूछने पर भी लेखक को कोई जवाब नहीं मिल पाया।

ऐसा ही अनुभव शिशु मिलाप के अध्येयता केन्द्रित विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत वडोदरा ज़िला, क्वांट तालुका के जंगल में देहाती गाँव के स्कूल में हुआ था। कक्षा 5, 6, 7 के बच्चे गुजराती में, बिना समझे सुनते रहते थे। ये बच्चे, उनके माता-पिता - सभी स्थानीय भाषा का उपयोग करते हैं।

सुधार हेतु सुझाव दिया था कि, कक्षा 1 में 80% स्थानीय भाषा + 20%

गुजराती, कक्षा 2 में 60% स्थानीय भाषा + 40% गुजराती, कक्षा 3 में 40% स्थानीय भाषा + 60% गुजराती, कक्षा 4 में 20% स्थानीय भाषा + 80% गुजराती, कक्षा 5 में 100% गुजराती में तैयार की गई पाठ्य सामग्री का उपयोग करके इन बच्चों की पढ़ाई करानी ज़रूरी है। हुआ कि नहीं, इसका पता लगाना मुश्किल है।

वसन्त वडवले,
वडोदरा, गुजरात

संदर्भ अंक-128 में संजय गुलाटी जी का लेख 'मातृभाषा आधारित बहुभाषी शिक्षा क्यों लाज़मी?' पढ़ा। बहुत अच्छा लेख। यह बात आज के समय में और भी प्रासंगिक हो जाती है जब वर्तमान में हमारे स्कूल में आने वाले बच्चे अति-वंचित समुदाय के हैं। वे अपने साथ कई सारी चुनौतियों के साथ भाषा की चुनौती भी लेकर आते हैं क्योंकि बच्चों के घर में बोली जाने वाली भाषा और स्कूल में पढ़ाई जाने वाली भाषा में फर्क होता है। इस कारण बच्चों को बहुत कठनाई का सामना करना होता है। बच्चे तो स्कूल आ रहे हैं क्योंकि वे सीखना चाहते हैं, पढ़ना चाहते हैं। पर भाषा की मुश्किल कई बार एक बड़ी समस्या बनकर उभरती है ।

एक और बात भी लगती है कि हर वर्ष होने वाले तमाम सारे प्रशिक्षणों में बहुत कुछ बताया जाता है, पर यह नहीं बताया जाता कि इन बच्चों के साथ किस तरह से काम किया जाए, किस तरह से इन बच्चों की भाषा को स्कूल में स्थान मिले और सिर्फ उनको सहानुभूती ही न मिले बल्कि उनकी भाषा को पढ़ने-लिखने की प्रक्रिया में भी शामिल किया जाए ताकि वे भी अन्य बच्चों के साथ मिलकर कदमताल कर सकें।

ये बच्चे अपने घर की भाषा बोलने में शर्म महसूस न करें, इसके लिए हमारे स्कूल को भी तैयार होना होगा। साथ ही, टीचर को भी इस बात को स्वीकार करना होगा कि यदि बच्चे शुरुआती दौर में अपने घर की भाषा का उपयोग करते हैं तो उसमें कोई बड़ा भारी दोष नहीं है। यह तो बस उनके सीखने का एक ज़रिया भर है। और शिक्षक बच्चों को बोलने के लिए प्रोत्साहित करें, फिर भले ही वे अपने घर की भाषा में ही बोलें। ताकि ये बच्चे स्कूल को एक महफूज़ जगह समझें जहाँ पर उनकी बात को सुना जाएगा, समझा जाएगा। इसके लिए हमें भाषा सीखने की समझ और भाषा सिखाने के पारम्परिक तरीकों को काफी बदलना होगा।

प्रेरणा मालवीय
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन,
भोपाल

संदर्भ अब ईपब फॉर्मेट में!

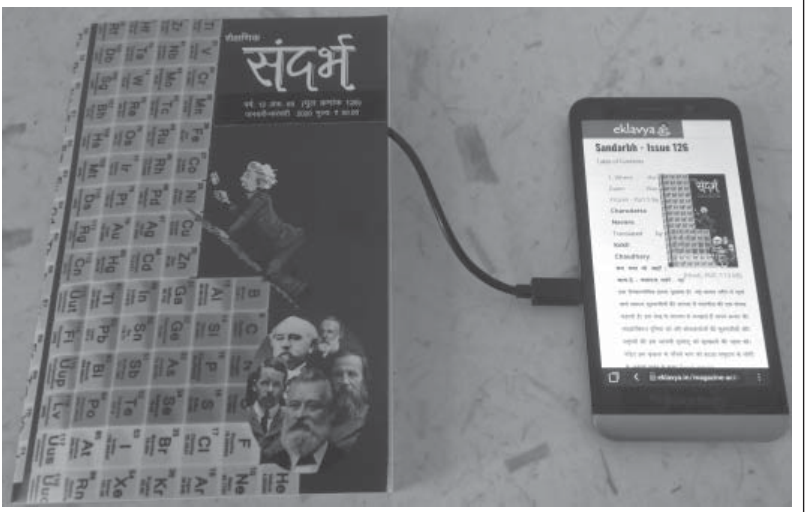

संदर्भ हमेशा होगी आपके पास
लीजिए नई ईपब सदस्यता

सदस्यता शुल्क	एक साल	तीन साल
	150 रुपए	400 रुपए

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क कीजिए

ई-मेल: pitarakart@eklavya.in

वेबसाइट: www.pitarakart.in

विषाणु: उधार की ज़िन्दगी या फिर जैव-विकास के अनोखे खिलाड़ी

चेतना खांबेटे

इस लेख के शीर्षक को पढ़कर यह ख्याल आना लाज़मी है कि भला उधार की ज़िन्दगी भी कोई जी सकता है! जी हाँ, यह सच ही है, विषाणु या वायरस दरअसल, उधार पर ही ज़िन्दगी जी रहे हैं लेकिन इस एक वाक्य से विषाणुओं को पूरी तरह से नज़रन्दाज़ नहीं कर सकते, न ही उन्हें हल्के में लिया जा सकता है।

वायरस शब्द सुनते ही हम लोगों के दिमाग में कम्प्यूटर से सम्बन्धित वायरस आने लगते हैं। लेकिन हम यहाँ इनसे अलग जैविक वायरस या विषाणुओं की बात करेंगे (कम्प्यूटर वायरस पर लेख - *संदर्भ* अंक-83 में पढ़ा जा सकता है)।

पिछले कुछ समय से पूरी दुनिया के लोगों के दिलो-दिमाग और ज़िन्दगी पर जो विषय छाया हुआ है, वह है कोरोना वायरस। इसकी वजह से तेज़ रफ्तार भागती ज़िन्दगी थम-सी गई है। अखबारों से लेकर सोशल मीडिया तक, सभी जगह इसी बारे में चर्चा है। अब तो हर एक व्यक्ति खुद

को कोरोना वायरस का एक अनोखा जानकार समझने लगा है। तभी तो मैं इस लेख के माध्यम से केवल विषाणु यानी वायरस के बारे में चर्चा करूँगी, जिन्होंने मुझे व्यक्तिगत रूप से हमेशा ही काफी अचम्भित किया है। इस लेख के माध्यम से हम विषाणुओं के अद्‌भुत संसार के बारे में भी जानने का प्रयत्न करेंगे।

विषाणु क्या है?

पिछले 100 वर्षों में वैज्ञानिकों ने विषाणु के बारे में विभिन्न प्रकार के मत दिए हैं। पहले तो इन्हें बीमारी पैदा करने वाले ज़हर के रूप में देखा गया (वायरस शब्द मूलतः लैटिन भाषा से लिया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ तरल विष या लिक्विड पॉइज़न होता है)। फिर इन्हें अणुओं का समूह मात्र माना गया और अन्य कुछ मतों के अनुसार, विषाणु को सजीव एवं निर्जीव के बीच की जगह में रखा गया।

वास्तव में विषाणु अन्य सभी प्रकार की कोशिकाओं से अलग और अत्यन्त सूक्ष्म संरचना हैं। विषाणु के आकार के बारे में यही कहा जा सकता है कि अब तक ज्ञात सबसे बड़े विषाणु को भी साधारण सूक्ष्मदर्शी से देख पाना असम्भव है। सबसे छोटे विषाणु की बात करें तो ऐसे लगभग 10,000 विषाणु सुई की नोक पर समा सकते हैं।

सामान्य कोशिकाओं में पाई जाने वाली मूलभूत बनावट और चयापचय के लिए ज़रूरी मशीनरी (कोशिकांगों) के अभाव में ये विषाणु महज़ बीमारी फैलाने वाले निर्जीव अणु ही तो हैं और आज के कोरोना महामारी के परिप्रेक्ष्य में यही उदाहरण सबसे सटीक भी लगता है, है न! परन्तु सम्पूर्ण सच्चाई शायद इससे कुछ ज़्यादा है। इनकी बनावट के बारे में विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे।

विषाणु सजीव है या निर्जीव?

अगर आप से सवाल किया जाए कि हम सजीव किसे कहेंगे और सजीवों को निर्जीवों से अलग कैसे करेंगे, तो आम तौर पर सजीवों को परिभाषित करते समय जिन पहलुओं का ज़िक्र सबसे पहले करते हैं, उनमें मूलभूत जैविक-प्रक्रियाओं जैसे श्वसन, पोषण, उत्सर्जन, परिसंचरण, समन्वयन, प्रजनन आदि की मौजूदगी है। इन प्रक्रियाओं के अलावा कोशिकीय संगठन, चयापचय तथा समस्थापन या होमियोस्टैसिस, सजीव होने के लिए ज़रूरी शर्तों की श्रेणी में आते हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर सूक्ष्म-जीवाणुओं से लेकर विशाल वटवृक्ष तक हम सभी सजीवों का सम्मान पाते हैं। लेकिन विषाणु तो इन ज़रूरी शर्तों को पूरा ही नहीं करते। दरअसल, विषाणु बहुगुणन/प्रजनन और चयापचय जैसी जैविक प्रक्रियाओं को भी स्वतंत्र रूप से नहीं कर सकते। इन्हें अपनी सभी प्रक्रियाओं के लिए एक मेज़बान कोशिका की सख्त

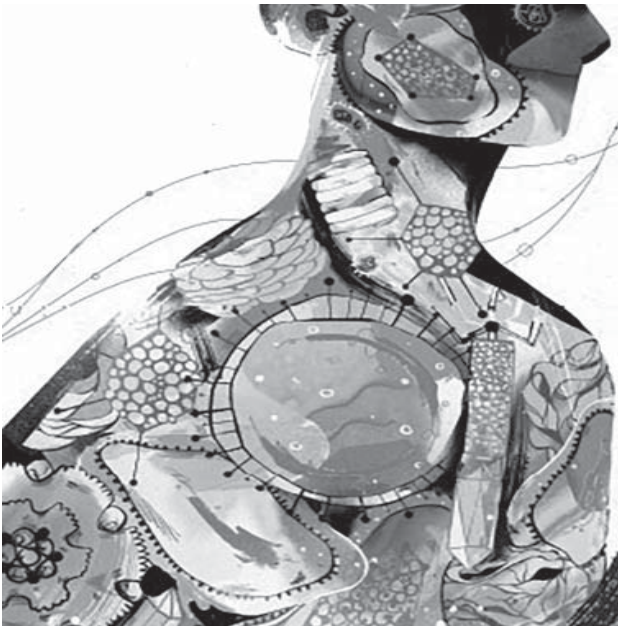

चित्र-1: *मानव शरीर में रहने वाले विभिन्न विषाणुओं का सांकेतिक चित्र।*

हाल के वर्षों में, जीनोमिक विज्ञान में हुई प्रगति ने शोधकर्ताओं को मानव शरीर में रहने वाले विषाणुओं के बारे में पुख्ता समझ प्रदान की है। इन विषाणुओं को सामूहिक रूप से मानव वाइरोम (जैसे अन्य जीवों का जीनोम..) कहा जाता है। नवीनतम तकनीकों से हमारे पेट, फ़ेफड़े, त्वचा और रक्त में पहले से मौजूद दर्जनों अनजाने विषाणुओं से हमारी जान-पहचान हुई है। इनमें से कुछ नए पहचाने गए विषाणु रहस्यमय बीमारियाँ पैदा कर सकते हैं, लेकिन यह भी सम्भव है कि इनमें से कुछ विषाणु ज़्यादातर लोगों में हानिरहित हों। अब यह जानना बहुत ज़रूरी हो जाता है कि ये नए खोजे गए विषाणु मनुष्यों को कैसे प्रभावित करते हैं, क्योंकि इससे हमें यह तय करने में आसानी होगी कि इन विषाणुओं का क्या किया जाए, मार दिया जाए कि छोड़ दिया जाए और या फिर उन्हें इनाम दिया जाए।

ज़रूरत होती है। हम यह भी कह सकते हैं कि विषाणु ऐसे मेहमान हैं, जो मेज़बान कोशिका के अन्दर जाकर ही सजीव कहलाते हैं, अन्यथा मेज़बान कोशिका के बिना ये बिचारे विषाणु प्रोटीन और नाभिकीय अम्लों (डीएनए/ आरएनए) के अणुओं का ढाँचा मात्र हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि विषाणु अणुओं का एक ऐसा समूह है जो ज़िन्दगी को स्थापित करने की कगार पर हैं। इस तरह से ये रसायन विज्ञान और जीवन के बीच एक पुख्ता सह-सम्बन्ध बताते हैं। विषाणुओं के प्रजनन के खास

अंकगणित (एक से एकदम सैकड़ों, आम तौर पर बैक्टिरिया में पाए जाने वाले एक-से-दो, दो-से-चार, जैसे द्विगुणन से नहीं) को समझना शायद उपयुक्त हो, खासकर इस मामले में कि वे कैसे तेज़ी-से बदलते हैं और ऐसे बदलाव के ज़रिए खुद को बनाए भी रखते हैं और एक मेज़बान प्रजाति से दूसरी प्रजाति में स्थानान्तरण भी करते हैं। लेकिन हमारा सवाल तो वहीं रह गया कि आखिर विषाणु सजीव है या निर्जीव। यहाँ मैं दो विषाणु शास्त्रियों मार्क एच.वी. वेन रीजनमॉर्टल तथा ब्रायन डब्ल्यू.जे. माही द्वारा हाल ही में दिए गए एक कथन का ज़िक्र करना चाहूँगी। उनके अनुसार "मेज़बान कोशिका पर निर्भरता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि विषाणु दरअसल, एक प्रकार की उधार की ज़िन्दगी जी रहे हैं।" इस कथन को हमारे सवाल का उपयुक्त जवाब माना जा सकता है, है न! वैसे अब भी इस बारे में वैज्ञानिकों के बीच स्पष्ट मत नहीं बन पाया है।

विषाणु के इतिहास में ताक-झाँक

विषाणुओं की बनावट को देखने-समझने से काफी पहले ही वैज्ञानिकों ने इन्हें खोज लिया था। विषाणुओं की खोज की यह कहानी 19वीं सदी के अन्त में शुरू हुई थी। सन् 1883 में एक जर्मन वैज्ञानिक अडोल्फ मैअर तम्बाकू के पौधों में होने वाले मोज़ैक बीमारी पर खोज कर रहे थे। उन्होंने देखा कि इस रोग से प्रभावित पौधे की पत्तियों को अन्य सामान्य पौधों पर घिसने से भी यह रोग फैलता है। बाद में उन्होंने पत्तियों के रस से भी यही निष्कर्ष निकाला और कहा कि इस रोग के जीवाणु असामान्य रूप से सूक्ष्म हैं जो कि हमें सूक्ष्मदर्शी में भी दिखाई नहीं देते। इसके लगभग एक दशक बाद रूसी वैज्ञानिक डिमित्री इवानोवस्की ने भी मेयर के कथन को प्रमाणित किया, उन्होंने जीवाणुओं को पृथक करने के लिए बनाई गई विशेष छलनी/फिल्टर से इस रस को निकाला और इस छने हुए रस से भी तम्बाकू मोज़ैक रोग फैल रहा था। इवानोवस्की का यह स्पष्ट मत था कि तम्बाकू का मोज़ैक रोग अत्यन्त सूक्ष्म ज़हरीले जीवाणुओं की ही देन है। इस खोज को एक नई दिशा देने वालों में डच पादप वैज्ञानिक मर्टिनस बेइज़रिन्क का योगदान महत्वपूर्ण है। इन्होंने तम्बाकू मोज़ैक रोग पर सुव्यवस्थित प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाले:

- ये जीवाणुओं से भी सूक्ष्म ज़हरीले अणु हैं। (दरअसल, बेइज़रिन्क ने ही सर्वप्रथम वायरस शब्द का प्रयोग किया था)
- ये रोगाणु केवल जीवित मेज़बान कोशिका के अन्दर ही द्विगुणन/प्रजनन कर सकते हैं।
- इन रहस्यमयी रोगाणुओं को अन्य सूक्ष्म-जीवों की भाँति प्रयोगशाला में

सम्वर्धन माध्यम में विकसित नहीं किया जा सकता।

आज चाहे हमें इन सुझावों में कुछ भी विशेष न लगे, लेकिन उस समय ये विचार विषाणु-विज्ञान के विकास की दिशा में मील का पत्थर माने गए। बेइज़रिन्क के इन विचारों को 1935 में अमेरिका के वैज्ञानिक वेंडेल स्टैंले ने तम्बाकू मोज़ैक विषाणु के कृत्रिम रवे/क्रिस्टल बनाकर और भी पुख्ता किया।

विषाणु की बनावट पर एक नज़र

विषाणु को क्रिस्टल के रूप में प्राप्त कर लेने पर जैव-वैज्ञानिकों के बीच खलबली मच गई थी क्योंकि तब तक तो किसी भी सरलतम जीवित कोशिका या जटिल सजीवों को क्रिस्टल के रूप में परिष्कृत नहीं किया जा सका था। तब यह कहा गया कि विषाणु कोशिकीय संरचना नहीं है, तो विषाणु आखिर हैं क्या?

विषाणु दरअसल, बीमारी फैला सकने वाले/रोगकारक अणु हैं जिसमें प्रोटीन से ढके हुए नाभिकीय अम्ल यानी डीएनए या आरएनए मौजूद रहते हैं। कुछ विषाणुओं में इस प्रोटीन के बाहर एक अतिरिक्त आवरण भी होता है। किसी भी जीव के शरीर पर मौजूद जींस को मिलाकर जीनोम कहा जाता है। अनुवांशिक पदार्थ/जींस का ज़िक्र आते ही सबसे पहले हमारे दिमाग में दोहरी कुण्डली वाले डीएनए का ही ख्याल आता है, लेकिन विषाणु तो हैं ही कुछ हटके, इनकी अनुवांशिक इकाइयाँ डीएनए तथा आरएनए, दोनों के रूप में हो सकती हैं। ये डीएनए तथा आरएनए, दोनों ही एकल कुण्डली वाले या दोहरी कुण्डली वाले हो सकते हैं। इस आधार पर विभिन्न विषाणुओं में चार प्रकार के अनुवांशिक पदार्थों में से कोई एक प्रकार पाया जाता है। इन्हीं के आधार पर विषाणु विशिष्ट समूह बनाते हैं।

इस जीनोम के बाहर के प्रोटीन से बने हुए भाग को कैप्सिड कहा जाता है। यह कैप्सिड विभिन्न आकृतियों के हो सकते हैं, जैसे छड़ाकार, षटकोणी, गोल आदि। कभी-कभी इस कैप्सिड के बाहर एक अन्य आवरण भी पाया जाता है जो कि दरअसल मेज़बान कोशिका की कोशिका-झिल्ली से वसा और कार्बोहाइड्रेट्स के अणुओं को चुराकर बनाया जाता है। यह कैप्सिड और बाह्य-आवरण ही विषाणु को विशिष्ट पहचान देते हैं। हम यूँ कहें कि हर एक विषाणु का अपना एक पहचान पत्र होता है जो उसे बाकी विषाणु के समूह से अलग बनाता है। इन अणुओं (प्रोटीन, न्यूक्लिक-एसिड, वसा, कार्बोहाइड्रेट) के अलावा किसी भी प्रकार की कोशिकीय संरचना (जैसे माइटोकॉण्ड्रिया, केन्द्रक, राइबोसोम, कोशिका भित्ति) आदि का पूर्ण अभाव होता है। अब जब इनके पास अपने स्वयं के लिए प्रोटीन या न्यूक्लिक

एसिड को बनाने वाली मशीन ही नहीं है तब इन्हें मेज़बान कोशिका पर ही पूरी तरह निर्भर रहना पड़ता है। यहाँ हम विषाणु को पूर्ण परजीवी भी मान सकते हैं। विभिन्न विषाणुओं ने मेज़बान को चुनने में कोई कोताही नहीं बरती है। जन्तु, पादप, फफूँद की कोशिकाएँ, एक-कोशिकीय जीव और यहाँ तक कि जीवाणुओं को भी मेज़बान के रूप में चुना गया है। कुछ विषाणु केवल एक ही प्रजाति को मेज़बान बनाते हैं, जैसे मीज़ल्स/खसरा के विषाणु केवल मनुष्य को ही संक्रमित करते हैं। वहीं कुछ विषाणुओं के मेज़बानों की फेहरिस्त लम्बी होती है, जैसे मनुष्य में तंत्रिका-तंत्र की एक घातक बीमारी फैलाने वाले वेस्ट नील-वायरस/ विषाणु मच्छर, पक्षियों और घोड़ों को भी अपना मेज़बान बनाते हैं, अतः इनके पास मेहमाननवाज़ी करवाने के लिए मेज़बानों की लम्बी सूची है।

विषाणुओं का उद्विकास तथा जैविक वर्गीकरण में स्थान

भले ही विषाणुओं को जैविक रूप से निष्क्रिय मान लिया जाए, फिर भी हम इस बात को नकार नहीं सकते कि सभी सजीवों के समान इनमें भी

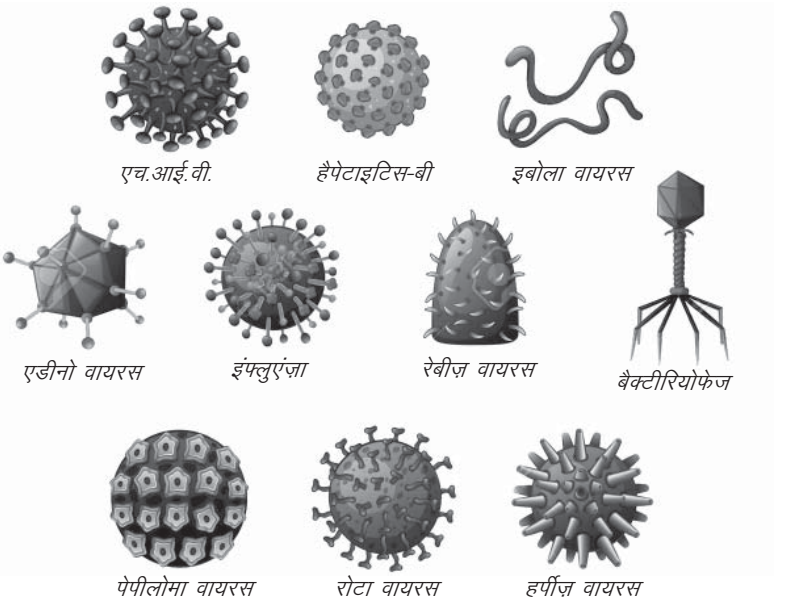

चित्र-2: *विभिन्न विषाणुओं के चित्र।*

वर्ग/ कुल	आवरण	विषाणुओं के उदाहरण जो मनुष्यों में रोगजनक हैं
1. दोहरी कुण्डली वाला डीएनए (dsDNA)		
एडीनो वायरस	नहीं	श्वसनतंत्र के विषाणु, गाँठ बनाने वाले विषाणु
पेपीलोमा वायरस	नहीं	मस्से, गर्भाशय के मुख का कैंसर उत्पन्न करने वाले विषाणु
पॉलिमा वायरस	नहीं	गिल्टी/गठानें उत्पन्न करने वाले विषाणु
हर्पीज़ वायरस	हाँ	मुँह के छाले, जननांग-घाव, दाद, शीतला आदि उत्पन्न करने वाले विषाणु
पॉक्स वायरस	हाँ	चेचक, गोशीतला उत्पन्न करने वाले विषाणु
2. एकल कुण्डली वाला डीएनए (ssDNA)		
पारवो वायरस	नहीं	हल्के लाल चकत्ते उत्पन्न करने वाले विषाणु
3 .दोहरी कुण्डली वाला आरएनए (dsRNA)		
रियो वायरस	नहीं	रोटा वायरस (दस्त), कोलोराडो बुखार विषाणु
4. एकल कुण्डली वाला आरएनए (ssRNA): mRNA की तरह काम करता है		
पिकॉमा वायरस	नहीं	राइनो वायरस (सामान्य सर्दी); पोलियो वायरस; हैपेटाइटिस-ए विषाणु; अन्य आँतों के विषाणु
कोरोना वायरस	हाँ	गम्भीर तीक्ष्ण श्वसन लक्षण (सार्स-SARS)
फ्लावि वायरस	हाँ	पीला बुखार वायरस; पश्चिमी नील बुखार का विषाणु; हैपेटाइटिस-सी विषाणु
टोगा वायरस	हाँ	जर्मन खसरा/रूबेला वायरस, मस्तिष्क की सूजन/एन्सेफेलाइटिस वायरस
5 . एकल कुण्डली वाला आरएनए (ssRNA): mRNA के संश्लेषण में साँचे की तरह काम करता है		
फिलो वायरस	हाँ	इबोला विषाणु (रक्तस्रावी बुखार)

आर्थोमीक्सो वायरस	हाँ	ज़ुकाम/इंफ्लुएंज़ा विषाणु
पेरामीक्सो वायरस	हाँ	खसरा, गलसुआ विषाणु
रेब्डो वायरस	हाँ	रेबीज़/जलांतक रोग का विषाणु
6. एकल कुण्डली वाला आरएनए (ssRNA): DNA के संश्लेषण में साँचे की तरह काम करता है		
रेट्रो वायरस	हाँ	ह्युमन इम्युनोडेफिशिएंसी विषाणु (एच.आई.वी. - एड्स), आरएनए ट्यूमर विषाणु (ल्यूकेमिया/रक्त कैंसर)

जीवन की मूलभूत भाषा डीएनए और आरएनए के रूप में मौजूद है। तो क्या हम विषाणु को प्रकृति का सबसे अनोखा और जटिल संयोजन कहें? या फिर जीवन का सबसे सरलतम रूप? दोनों ही विकल्पों के बारे में कुछ तय करने से पहले हमें अपनी परम्परागत परिभाषाओं को बदलना ही पड़ेगा। विषाणु के सजीवों के साथ सम्बन्ध को यूँ ही तो नकारा नहीं जा सकता न। अणुओं के द्विगुणन (इसे हम विषाणुओं का प्रजनन कह सकते हैं) हेतु मेज़बान कोशिका की ज़रूरत के चलते जैव-विकास में इन्हें कोशिकीय जीवों का पूर्वज तो नहीं माना जा सकता। दरअसल, विषाणुओं की उत्पत्ति सजीवों के समान्तर हुई और उद्विकास कई बार हुआ है। लेकिन जीव-विज्ञान के बहु-प्रचलित तीन डोमेन और पाँच जगत वर्गीकरण में इन्हें अभी भी कोई जगह नहीं मिल पाई है। हालाँकि, कुछ वर्तमान विषाणु वैज्ञानिक मानते हैं कि विषाणु को एक अलग डोमेन के रूप में स्थापित किया जाना चाहिए जो कि किसी हद तक सही भी है। हम इन्तज़ार करेंगे यह जानने के लिए कि लगभग 5,000 से भी अधिक प्रजातियों वाले विषाणुओं को जैव-वर्गीकरण में अपनी जगह कब मिलती है।

विषाणु और हमारा शरीर

वैश्विक स्तर पर पेड़-पौधे, पशुओं और मनुष्य में होने वाले कई रोगों का कारण विषाणु ही हैं लेकिन हम अपनी बात को मनुष्यों एवं अन्य जानवरों तक ही सीमित रखेंगे। सबसे पहले हम समझने का प्रयास करते हैं कि इनकी वजह से हमारे शरीर में ऐसे कौन-से बदलाव होते हैं जिन्हें हम उन रोगों के लक्षण मानते हैं। दरअसल, ये लक्षण/बदलाव विषाणु द्वारा मेज़बान कोशिका को सीधा मार गिराने से या कोशिका द्वारा अपने

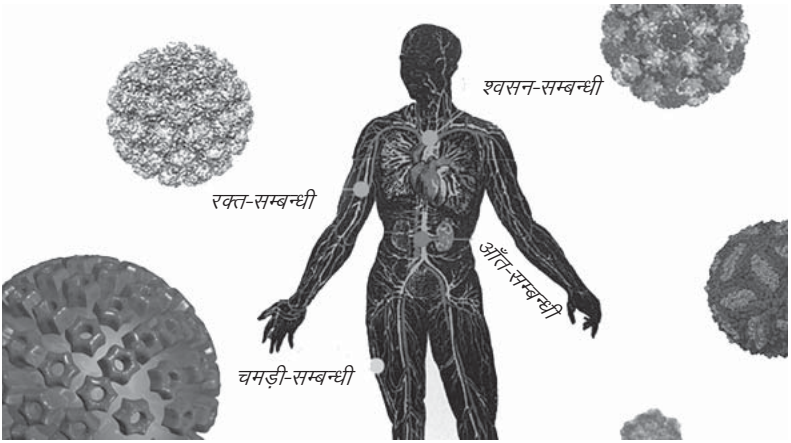

चित्र-3: *हमारा शरीरः विषाणुओं की बसाहट। विविध विषाणु, बैक्टीरिया कोशिकाओं और मानव शरीर पर मिलजुलकर रहते हैं। वैज्ञानिक अभी यह समझने में लगे हैं कि ये वायरस कब हमारे लिए मददगार हैं और वे कब खतरनाक रोगाणुओं में बदल सकते हैं।*

बचाव में बनाए गए विषैले रसायनों के प्रभाव की वजह से दिखाई देते हैं। हालाँकि, अधिकांश अस्थाई लक्षण जैसे बुखार, बदन-दर्द आदि हमारे शरीर के द्वारा खुद को बचाने के लिए की जाने वाली तरकीब हैं, न कि विषाणु द्वारा मारी गई कोशिकाओं का परिणाम।

कोई विषाणु कितना नुकसान पहुँचा सकता है, यह कुछ हद तक उस मेज़बान कोशिका एवं ऊतकों की पुनर्जनन की क्षमता पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, हम लोग साधारण सर्दी-ज़ुकाम से काफी जल्दी छुटकारा पा लेते हैं क्योंकि हमारे श्वसन मार्ग की उपकला-कोशिकाएँ (Epithelial Cells) विषाणु के आक्रमण से जल्दी ही मुक्ति पा लेती हैं। वहीं पोलियो के विषाणु, परिपक्व तंत्रिका-कोशिकाओं पर हमला करते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि परिपक्व तंत्रिका-कोशिकाएँ विभाजित नहीं हो सकतीं और इसीलिए पोलियो का असर स्थाई हो जाता है।

हमारे शरीर का प्रतिरक्षा तंत्र अपना काम मुस्तैदी से करता है। प्रतिरक्षा तंत्र की कुछ कोशिकाओं (बी-लिंफोसाइट) की पैनी याददाश्त के बलबूते पर ही तो टीके या वैक्सीन को बनाया जा सकता है। इन्हीं के दम पर हम कई जानलेवा बीमारियों से खुद को सुरक्षित कर पाते हैं। दरअसल, टीके के रूप में रोग उत्पन्न करने वाले रोगाणुओं को ही निष्क्रिय रूप में या बहुत कम तादाद में शरीर के अन्दर भेजा जाता है, जिससे

प्रतिरक्षा तंत्र इन्हें पहचानकर खत्म करता है और साथ ही इनसे लड़ने की सुरक्षा प्रोटीन या एंटीबॉडी की डिज़ाइन को भविष्य के लिए भी संरक्षित कर लेता है। विषाणु द्वारा होने वाली कई गम्भीर बीमारियों जैसे चेचक, खसरा, पोलियो, हैपेटाइटिस आदि के लिए टीके मौजूद हैं। हालाँकि, आधुनिक विज्ञान की उन्नत तकनीकों के बावजूद भी सभी विषाणु-जनित बीमारियों के टीके बनाना मुमकिन नहीं हो पाया है। इसके पीछे मुख्य तर्क यही दिया जाता है कि विषाणु अपनी बनावट में लगातार परिवर्तन करते रहते हैं जिससे उनके लिए बनाए गए टीके पूरी तरह से कारगर नहीं हो पाते। वैसे भी टीकाकरण तो बचाव के तौर पर किया जाता है। विषाणु-जनित रोग से संक्रमित हो जाने पर हम ज़्यादा कुछ कर नहीं सकते क्योंकि इनके लिए कोई भी सटीक इलाज मौजूद नहीं है। विषाणु के संक्रमण में एंटीबायोटिक/प्रतिजैविक दवाइयाँ कोई फायदा नहीं पहुँचातीं क्योंकि ये जीवाणुओं पर ही असरकारक हैं, विषाणुओं पर नहीं। यहाँ इसको ऐसे भी समझ सकते हैं कि क्योंकि विषाणुओं में ज़्यादा स्वतंत्र और विशिष्ट जैवरासायनिक प्रक्रियाएँ नहीं हैं, एंटीवायरल को ईजाद करना उतना आसान नहीं है जितना, मसलन, एंटीबायोटिक्स को। लेकिन कुछ ऐसी दवाइयाँ हैं जो सीधे विषाणु की अनुवांशिक कार्यप्रणाली को बाधित कर देती हैं या फिर उनके आक्रमण से होने वाले संक्रमण के दुष्परिणामों से शरीर को बचाती हैं। अतः विषाणु-जनित रोग हो जाने पर अक्सर विभिन्न प्रकार से काम करने वाली दवाइयों का मिश्रण या कॉकटेल दिया जाता है।

कुछ उभरते विषाणु

आप भी ये मानते होंगे कि उभरते कलाकार हमारी कला को और भी समृद्ध करते हैं परन्तु यह उभरते विषाणु क्या बला हैं? अचानक ही प्रकट होकर अपना प्रभाव दिखाने वाले विषाणु इसी श्रेणी मे आते हैं। लगभग 100 वर्ष पहले प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान, सबसे बड़ी वैश्विक महामारी स्पैनिश फ्लू विषाणु-जनित बीमारी ही थी, जिसने 5 करोड़ से ज़्यादा लोगों को अपनी चपेट में लिया था। इसके अलावा पिछले 40 सालों में एच.आई.वी.-एड्स, इबोला आदि विषाणु-जनित बीमारियाँ भी विश्व में फैली हैं और इनके दुष्प्रभावों के बारे में हमने भी काफी सुना है। इसी कड़ी में 2009-10 में वैश्विक महामारी के रूप में सामने आई विषाणु-जनित बीमारी स्वाइन फ्लू जिसने एक-डेढ़ साल में 207 देशों के लाखों लोगों को अपनी चपेट में लिया और हज़ारों लोग मौत के शिकार हुए। अगर हम बीती बातों को छोड़ भी दें तो भी हाल ही में कोरोना विषाणु से फैली बीमारी कोविड-19

भी अचानक प्रकट हुई है जिसने दुनिया भर में डर और मौत का कहर मचाया हुआ है। प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य जाति पर अपना इतना असर डालने वाले ये विषाणु अचानक कैसे सामने आए जो कि पहले गुमनाम थे। हम यहाँ विषाणु-जनित रोगों के अचानक प्रादुर्भाव के कारणों को जानने की कोशिश करेंगे।

सबसे पहला और महत्वपूर्ण कारण विषाणु में उत्परिवर्तन (अनुवांशिक संरचना में अचानक होने वाले बदलाव) के फलस्वरूप अपनी सम्पूर्ण बनावट को बदल लेना है। यह तथ्य आरएनए विषाणु के सन्दर्भ में सटीक कहा जा सकता है। इस बदलाव के कारण हमारा प्रतिरक्षा तंत्र नया रूप धारण किए हुए इन विषाणु से लड़ नहीं पाता और चपेट में आ जाता है। उदाहरण के लिए, H1N1/स्वाइन फ्लू को साधारण इंफ्लुएंज़ा विषाणु का उत्परिवर्तित रूप माना जाता है। इंफ्लुएंज़ा विषाणु में बदलाव के लिए केवल उत्परिवर्तन ही एकमात्र कारण नहीं है। कई बार इंफ्लुएंज़ा के एक से अधिक विषाणुओं द्वारा एक ही कोशिका को संक्रमित करने पर इन विषाणुओं के अनुवांशिक पदार्थों में अदला-बदली हो सकती है और ये विषाणु फिर से एक नए स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं।

इसके अलावा एक अलग-थलग छोटी जगह से लोगों के बड़े पैमाने पर आने-जाने की वजह से भी कुछ विषाणुओं का प्रसार वैश्विक स्तर पर हुआ है। जैसे एड्स की बात ले लें, माना जाता है कि यह बीमारी अफ्रीका के एक छोटे-से हिस्से में सीमित थी लेकिन पिछले कुछ ही दशकों में एच.आई.वी. विषाणु पूरी दुनिया में फैल गया है। हालाँकि, इस प्रसार में कई सामाजिक और तकनीकी बदलावों का भी काफी महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

इन विषाणुओं के फैलने का तीसरा रास्ता जानवरों के सम्पर्क से फैलने वाला संक्रमण है। माना जाता है कि तीन-चौथाई विषाणु-जनित नई बीमारियाँ जानवरों से ही हम तक आई हैं। ये जानवर ही विषाणुओं को पालने-पोसने वाले प्राकृतिक स्रोत बन जाते हैं। यह बात साफ करनी चाहिए कि जिस तरह वायरस दूसरे जानवरों से इन्सानों में फैल सकते हैं, उसी तरह वे इन्सानों से दूसरे जानवरों में भी फैल सकते हैं। यहाँ हम फिर एक बार स्वाइन फ्लू का ज़िक्र करेंगे। यह H1N1 विषाणु सूअरों से मनुष्यों में आए थे (स्वाइन=सूअर)। ऐसे ही आपको बर्ड फ्लू भी याद होगा जो कि संक्रमित पक्षियों से आने वाले H5N1 विषाणु के कारण होता है। कोरोना वायरस के प्रसार की कड़ी की शुरुआत भी चीन में प्राणियों (मुख्यतः शायद चमगादड़ों) से हुई मानी जाती है।

हमें एक बात स्पष्ट रूप से पता होनी चाहिए कि ये विषाणु स्वयंभू नहीं हैं। बल्कि पुराने या मौजूदा विषाणु ही एक नए रंग-रूप के साथ पलटकर सामने आए हैं। जीवों के व्यवहार तथा पर्यावरण में बदलाव के फलस्वरूप इन विषाणुओं का प्रसार तेज़ी-से होता है और ये महामारी का रूप ले लेते हैं।

प्रयोगशाला में निर्मित विषाणु

कई सारे विषाणुओं को आज प्रयोगशालाओं में उन्नत तकनीकों की मदद से तैयार किया जा सकता है। हालाँकि, यह बात स्पष्ट है कि ये तैयार किए गए नए विषाणु पूरी तरह से रसायनों/अणुओं की मदद से नहीं बनते बल्कि पहले से ही मौजूद किसी विषाणु की संरचना में फेरबदल करके बनाए जाते हैं। ये दरअसल, जीनोम पर आधारित कुछ खोजपरक प्रयोगों का भाग भी हो सकते हैं। किन्तु आज के परिप्रेक्ष्य में इस तरह के संश्लेषित विषाणुओं को चिन्ता का विषय भी माना जा रहा है क्योंकि कुछ विकसित देश या मानवता के दुश्मन संश्लेषित विषाणुओं का उपयोग जैविक हथियारों के रूप में कर सकते हैं। इस आशंका से इन्कार नहीं किया जा सकता क्योंकि किसी भी स्तर के युद्ध में अगर इन जैविक हथियारों का उपयोग किया गया तो परिणाम स्वरूप बड़े स्तर पर महामारी फैलने से उस देश में न केवल स्वास्थ्य पर विपरीत असर पड़ेगा वरन साथ ही, उस देश की आर्थिक स्थिति भी कमज़ोर हो जाएगी। इस बात को हाल ही में फैली हुई बीमारी कोविड-19 के उदाहरण से भली-भाँति समझा जा सकता है।

दूसरी ओर यह भी गौर करने लायक और महत्वपूर्ण है कि हाल ही में फैले सार्स-कोव-2 वायरस में 'अप्राकृतिक' या डिज़ाइन किया गया वायरस होने के कोई संकेत नहीं दिखाई दिए हैं।

विषाणुओं का विज्ञान में महत्व

विषाणुओं द्वारा फैलाई गई छोटी-छोटी तकलीफों से लेकर बड़ी-बड़ी महामारियाँ हमारे सामने इनका नकारात्मक पक्ष ही प्रस्तुत करती हैं, लेकिन इन विषाणुओं को विज्ञान के इतिहास ही नहीं वरन भविष्य के लिए भी फायदेमन्द माना जा रहा है और इन पर लगातार नए-नए प्रयोग किए जा रहे हैं। अनुवांशिक विज्ञान का इतिहास तो जीवाणु एवं विषाणु पर आधारित प्रयोगों से मज़बूत हुआ था (जैसे डीएनए को सर्वव्यापी अनुवांशिक पदार्थ का रुतबा दिलाने वाले हरशे एंड चैस के प्रयोग)। इन विषाणुओं का उपयोग जैव-अभियांत्रिकी के क्षेत्र में प्रचुरता से होता है (जैसे वांछनीय जींस को अन्य जीव में पहुँचाने वाले वेक्टर के रूप में कुछ पादप/जीवाणुओं के विषाणु)।

जैसा कि हमने पहले पढ़ा है, किसी भी सजीव के शरीर में मौजूद कुल जींस को उसका जीनोम कहा जाता है। कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि लाखों वर्ष पूर्व मौजूद प्राचीन विषाणुओं के जींस ने हमारे पूर्वजों के जीनोम में अपनी एक जगह बना ली और पीढ़ी-दर-पीढ़ी ये जींस अपनी रोग कारक क्षमता को त्यागते हुए हमारे ही जींस का हिस्सा बन चुके हैं। ये विषाणु जींस अब हमें कई अन्य खतरनाक विषाणुओं से रोग प्रतिरोधक क्षमता प्रदान करने में भी अहम भूमिका निभाते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मानना है कि गर्भावस्था के दौरान बनने वाले प्लेसेंटा को बनाने के लिए भी जिन प्रोटींस की ज़रूरत होती है, उनके लिए भी यही विषाणु जींस जिम्मेदार हैं।

जैव-विकास में प्रतिरक्षा तंत्र और विषाणुओं की साँठ-गाँठ

जन्तुओं का प्रतिरक्षा तंत्र इम्यूनोग्लोबिन नामक प्रोटीन और कुछ विशिष्ट सफेद रक्त कोशिकाओं के ज़रिए उत्पाती बैक्टीरिया तथा विषाणुओं पर हमला करता है। घुसपैठियों का जवाबी हमले का तंत्र भी तैयार होता है। इस तंत्र का प्रमुख हथियार होता है प्रतिरक्षा तंत्र को दबा देने वाले अणु बनाना। विषाणुओं का एक और हथकण्डा यह होता है कि वे शिकार की कोशिकाओं को एक-दूसरे में घुलमिल जाने के लिए मजबूर कर देते हैं और खुद अपनी संख्या बढ़ाते रहते हैं। हद तब हो जाती है जब कुछ विषाणुओं का डीएनए शिकार के डीएनए में घुसकर उसका एक भाग ही बन जाता है। इसे जन्तुओं द्वारा अंगीकृत विषाणु डीएनए कहते हैं। लेकिन जैव-विकास ऐसी मौकापरस्त प्रक्रिया है कि जन्तुओं ने इसका भी फायदा उठा लिया है। इन जन्तुओं के जींस के समूह (जीनोम) में अंगीकृत विषाणुओं का उपयोग करके ही स्तनधारी जन्तुओं का पृथ्वी पर आविर्भाव हो सका। माँ के लिहाज़ से तो हर गर्भ पराए अणुओं का एक समुच्चय होता है क्योंकि भ्रूण में माँ के अणु तो होते ही हैं, उनके साथ पिता के पराए अणु भी होते हैं। माँ के प्रतिरक्षा तंत्र की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है कि वह इन पराए अणुओं पर हमला करे। यानी गर्भ ठहरते ही गर्भपात हो जाए। लेकिन छछून्दर से हाथी तक, चमगादड़ से व्हेल तक सभी स्तनधारी जन्तुओं में यह गर्भपात टल जाता है। इसका कारण यह है कि गर्भ ठहरते ही माँ के शरीर में अब तक निष्क्रिय अवस्था में पड़े अंगीकृत विषाणु सक्रिय हो जाते हैं। इनकी मदद से माँ के प्रतिरक्षा तंत्र की कार्रवाई कुछ समय के लिए स्थगित कर दी जाती है। फिर कोशिकाओं को अन्य कोशिकाओं से जोड़ने की प्रक्रिया के ज़रिए भ्रूण के इर्द-गिर्द सुरक्षात्मक आवरण यानी आँवल (प्लेसेंटा) बनाया जाता है। इसकी आड़ में भ्रूण सुरक्षित रहता है। जैव-विकास के दौरान यह प्रक्रिया कैसे विकसित हो गई, यह अब तक एक पहेली है, लेकिन इतना निश्चित है कि स्तनधारियों ने दुश्मन के हथियारों को बड़ी होशियारी से अपनाकर अपनी उन्नति का रास्ता साफ कर लिया है।

- माधव गाडगिल की किताब 'विषाणु - विकास का एक और वाहक' से।

विषाणु से मनुष्य जाति को होने वाले सम्भावित फायदों की बात हो और बैक्टीरियोफेज का ज़िक्र न हो, यह ठीक नहीं है। हमने पढ़ा है कि बैक्टीरियोफेज वे विषाणु हैं जो किसी भी बैक्टीरियल कोशिका यानी जीवाणुओं पर निर्भर होते हैं। ये बैक्टीरियोफेज विषाणु जीवाणु कोशिकाओं के अन्दर प्रवेश करके, उनकी मशीन का उपयोग करके, अपने लिए प्रोटीन और अनुवांशिक पदार्थ बनाते हैं और अन्ततः उस जीवाणु कोशिका को नष्ट कर देते हैं। इसी गुण को हमारे फायदे के लिए उपयोग में लाया जा रहा है यानी कि जीवाणु से होने वाले संक्रमण से बचाव में इन्हीं बैक्टीरियोफेज का उपयोग किया जा सकता है, इस पर शोध जारी है।

वैज्ञानिक नित नई खोजों से यह भी प्रमाणित कर रहे हैं कि हमारे शरीर के सहजीवी-मित्र जीवाणुओं की तरह ही कई विषाणु भी हमारे पाचन तंत्र और प्रतिरक्षा तंत्र के लिए सहायक हैं। विषाणुओं का पौधों के साथ सकारात्मक सम्बन्ध, उनकी उत्पादकता और रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि कर देता है।

हम चाहे विषाणुओं को सजीव मानें या न मानें, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विषाणु को उनकी विशेष पहचान देकर उनके प्राकृतिक माहौल में अर्थात् जीव-जगत के सजीव जाल के परिप्रेक्ष्य में ही अध्ययन किया जाना आवश्यक है। तभी शायद हम इनके विषय में और सकारात्मक जानकारी ले पाएँगे।

***

पेड़-पौधों और जन्तुओं में बीमारियों का संक्रमण देने के मामले में विषाणु ही सबसे सूक्ष्म एवं सरलतम नहीं हैं। अब तो वाईरॉइड (आरएनए अणु) तथा प्रियोन (प्रोटीन अणु) खोजे जा चुके हैं जो कि विषाणु से भी सूक्ष्म और सरल हैं। लेकिन इनके बारे में विस्तृत चर्चा फिर कभी।

चेतना खांबेटे: केन्द्रिय विद्यालय, इंदौर में जीव-विज्ञान पढ़ाती हैं।

सन्दर्भ:

1. Unit3. Chapter 19, Campbell Biology, Tenth_Edition-Reece, Urry, Cain_et_al
2. https://www.virology.ws/2009/03/19/viruses-and-the-tree-of-life/
3. https://en.m.wikipedia.org/wiki/Virus
4. https://www.sciencedaily.com/releases/2015/04/150430170750.htm
5. https://www.the-scientist.com/features/viruses-of-the-human-body-32614
6. श्वास प्रश्वास सम्बन्धी https://link.springer.com/article/10.1007/s12052-012-0441-y

हाथ धोने को लेकर

अतुल गवांडे

मनुष्य के चिकित्सीय इतिहास में संक्रमण को समाप्त या कम करने में हाथ धोने के महत्व का वर्णन करता है यह लेख। समझ में आता है कि यह एक आसान-सा दिखने वाला कदम उठाने में हमें कितना लम्बा समय लगा और किस-किस तरह के विरोध का सामना करना पड़ा। स्वाभाविक और बेहद ज़रूरी होने के बावजूद आज भी अस्पतालों में इस लाज़िमी कदम में हम अक्सर चूक कर जाते हैं, जो कई मरीज़ों के लिए जानलेवा साबित हो सकता है।

इस लेख का फोकस ज़रूर बैक्टीरिया-जनित संक्रमण हैं, परन्तु वायरस-जनित संक्रमण के लिए भी यह लेख और यह उपाय उतना ही मौजूँ है - जैसा कि आज सार्स-कोव-2 वायरस की महामारी के दौर में स्पष्ट है कि इसका फैलाव रोकना है तो तीन महत्वपूर्ण उपायों - मुँह-नाक ढँककर रखना, हाथ धोना और शारीरिक दूरी बनाए रखना - में से यह एक है।

दिसम्बर के एक सामान्य दिन मैंने संक्रामक रोग विशेषज्ञ डेबोराह योकोइ (Deborah Yokoe) और सूक्ष्म जीवविज्ञानी सूज़न मैरिनो (Susan Marino) के साथ अपने अस्पताल का दौरा किया। ये दोनों हमारे अस्पताल की संक्रमण-नियंत्रण इकाई में काम करती हैं। उनका और इस इकाई के तीन और लोगों का पूर्णकालिक काम है अस्पताल में संक्रमण को फैलने से रोकना। यह कोई चमक-दमक वाला काम नहीं है और न ही ये चमक-दमक वाले लोग हैं। योकोइ 45 साल की हैं, नर्म आवाज़ वाली, और गालों पर हिलकोरे वाली। खेल वाले जूते (स्नीकर) पहनकर काम पर आती हैं। मैरिनो 50 के दशक में हैं और स्वभाव से गम्भीर-संकोची हैं। परन्तु इन्होंने इंफ्लुएंज़ा की महामारी का सामना किया है, और लेजिनेयर्स रोग का, जानलेवा बैक्टीरियाई मेनिंजाइटिस का। और, कुछ ही महीने पहले, एक ऐसा केस जो मरीज़ के मस्तिष्क के बायोप्सी नतीजों के आधार पर, क्रूट्ज़फेल्ड जेकब रोग हो सकता है – एक दुःस्वप्न – न सिर्फ इसलिए कि यह लाइलाज और जानलेवा रोग है, परन्तु इसलिए भी क्योंकि प्रायन

नामक जिस संक्रामक एजेंट की वजह से यह होता है, उसे सामान्य ताप-शुद्धीकरण (heat-sterilization) विधियों से मारा नहीं जा सकता। जब तक (टेस्ट के) नतीजे आए, न्यूरोसर्जन के मस्तिष्क की बायोप्सी के औज़ारों से रोग अन्य मरीज़ों तक भी पहुँच सकता था, परन्तु संक्रमण नियंत्रण टीम के सदस्यों ने वक्त रहते उन औज़ारों को ढूँढ़ निकाला और उनका रासायनिक स्टरलाइज़ेशन करवाया।

योकोइ और मैरिनो ने चेचक देखा है, प्लेग देखा है और रैबिट फीवर भी (जो एक ऐसे बैक्टीरिया के संक्रमण से होता है जो अस्पताल की प्रयोगशाला में बहुत ही अधिक छुतहा किस्म का होता है, और एक जैव-हथियार माना जाता है)। इन लोगों ने एक बार हैपेटाइटिस-ए की महामारी के स्रोत के रूप में किसी सामाजिक आयोजन में परोसी गई आइसक्रीम की पहचान करने के बाद पूरे देश से फ्रोज़ेन (जमी हुई) स्ट्रॉबेरी के फल वापस बुलवाने की शुरुआत करवाई थी। उन्होंने मुझे बताया कि हाल में अस्पताल में जो संक्रमण खुले घूम रहे हैं, वे हैं एक रोटावायरस (नॉरवॉक वायरस), स्यूडोमोनास बैक्टीरिया की कई किस्में (strains), एक महाप्रतिरोधी क्लेबसिएला, और आधुनिक अस्पतालों की सर्वव्यापी आफत और आतंक – प्रतिरोधी स्टेफायलोकोकस ऑरियस और एंटेरोकोकस फीकैलिस – जो अक्सर निमोनिया, चोट के घावों और खून के संक्रमण के कारण बनते हैं।

क्या न करना सबसे घातक है अस्पताल में?

(संयुक्त राष्ट्र के) रोग नियंत्रण एवं रोकथाम केन्द्र (CDC) के अनुसार, हर साल 20 लाख अमरीकियों को उस वक्त संक्रमण हो जाता है जब वे अस्पताल में होते हैं। इनमें से 90 हज़ार लोग मारे जाते हैं। योकोइ कहती हैं कि संक्रमण नियंत्रण टीम के काम का सबसे मुश्किल हिस्सा संक्रामकों की ढेर सारी किस्मों से निपटना नहीं है, न ही कभी-कभी मरीज़ों या अस्पताल-कर्मियों में उभरने वाली घबराहट का सामना करना है। बजाय इसके, उनकी सबसे बड़ी मुश्किल है मेरे जैसे डॉक्टरों से वह एक चीज़ मनवाना जो लगातार संक्रमणों के फैलाव को रोकता हैः अपने हाथ धोना। ऐसी बहुत कम ही चीज़ें हैं जो इन लोगों ने आज़माई नहीं हैं। (अस्पताल की इमारत की) सर्जरी के मामलों वाली मंज़िलों में – जहाँ मैं अपने मरीज़ों को भर्ती करता हूँ - इधर-उधर घूमते हुए योकोइ और मैरीनो ने मुझे वे हिदायती नोटिस दिखाए जो उन्होंने लगाए थे, वे हाथ धोने के सिंक बताए जिन्हें सही जगहों पर लगवाया था, और वे भी जो नए लगवाए गए थे। कुछ सिंक को उन्होंने स्वचालित बना दिया था। उन्होंने विशेष 5000 डॉलर

चित्र-1

कीमत के 'सावधानी ठेले' खरीदे थे जिनमें धोने वाली सभी चीज़ें, दस्ताने और गाउन बहुत ही सलीके से भण्डारित किए जा सकते थे और एक जगह से दूसरी जगह ले जाए जा सकते थे। उन्होंने अस्पताल की उन इकाइयों को फिल्म की टिकटें उपहार स्वरूप दी थीं जो सबसे अच्छे से नियमों का पालन कर रहे थे। उन्होंने स्वच्छता की प्रगति-रिपोर्टें बनाकर जारी की थीं। फिर भी, हमने अपने तौर-तरीके नहीं सुधारे थे।

हमारे अस्पताल के आँकड़े भी वही दिखाते हैं जो अन्य जगहों के अध्ययन बताते हैं - कि हम डॉक्टर और नर्सें जितनी बार हमें हाथ धोना चाहिए, उससे आधी बार या एक-तिहाई बार ही अपने हाथ धोते हैं। किसी नाक सुड़सुड़ाते मरीज़ से हाथ मिलाने के बाद, किसी की चोट से चिपकी पट्टी को निकालने के बाद, किसी की पसीने से तर छाती पर स्टेथोस्कोप लगाने के बाद, हम में से अधिकतर बस अपने सफेद कोट पर हाथ पोंछ लेते हैं और आगे बढ़ जाते हैं - अगले मरीज़ को देखने, चार्ट या फाइल में कुछ नोट लिखने या लंच के वक्त दो-चार निवाले खाने। शर्म की बात यह है कि इसमें कुछ भी नया नहीं है।

एक पगलेट जीनियस

1847 में, 28 साल की उम्र में, विएना के प्रसूति-विज्ञानी इग्नाज़ सेमेलवाएस (Ignaz Semmelweis) ने यह मशहूर निष्कर्ष निकाला था कि अपने हाथ बार-बार या अच्छी तरह से न धोने के कारण जच्चा माओं को जच्चगी के बाद आने वाले बुखार (प्रसूति बुखार) के लिए खुद डॉक्टर ही ज़िम्मेदार थे। एंटीबायोटिक के ज़माने से पहले (और इस बात के पहचाने जाने से पहले कि कीटाणु (germs) संक्रामक रोगों के वाहक होते हैं) जच्चगी के दौरान होने वाली मातृ-मृत्यु के लिए प्रसूति बुखार को ही प्रमुख कारक माना जाता था। यह एक बैक्टीरियाई संक्रमण है - सबसे

आम है स्ट्रेपटोकोकाई से होने वाला संक्रमण, उसी बैक्टीरिया से जिससे गले में खराश होती है – जो बच्चे के जन्म के बाद योनिमार्ग से प्रवेश करके बच्चेदानी को संक्रमित कर देते हैं। सेमेलवाएस जिस अस्पताल में काम करते थे, वहाँ हर 3000 जच्चा माओं में से हर साल 600 या उससे ज़्यादा माएँ इस बुखार से दम तोड़ देती थीं – यानी 20 प्रतिशत मातृ-मृत्यु-दर। इसके बरअक्स, घर में बच्चे पैदा करने वाली महिलाओं में से केवल एक प्रतिशत की ही मौत होती थी। इससे सेमेलवाएस ने यह निष्कर्ष निकाला कि डॉक्टर खुद ही अपने मरीज़ों के बीच इस रोग को फैला रहे हैं। उन्होंने नियम बनाया कि उनके वॉर्ड के सभी डॉक्टर और नर्स दो मरीज़ों को जाँचने के बीच नाखून साफ करने के ब्रश से और क्लोरीन से हाथ साफ करें। जच्चगी के बाद की मातृ-मृत्यु-दर का आँकड़ा फौरन एक प्रतिशत पर ढुलक गया। लगता था कि इस बात के पक्के प्रमाण मिल गए थे कि डॉक्टर सेमेलवाएस सही हैं।

फिर भी, और जगहों पर डॉक्टरों के व्यवहार में बदलाव नहीं आया था। कुछ (समकालिक) डॉक्टर तो डॉक्टर सेमेलवाएस के दावों से अपमानित भी महसूस कर रहे थे। उनके लिए यह नामुमकिन था कि डॉक्टर खुद अपने मरीज़ के लिए जानलेवा बन जाएँ। अपने काम के लिए सराहना मिलना तो दूर, सेमेलवाएस की अन्ततः नौकरी ही चली गई।

डॉक्टरों के ज़िद्दीपन और अन्धेपन के मामले में सेमेलवाएस की कहानी सबूत क्रमांक-ए के रूप में हम तक पहुँची है। पर कहानी इससे भी ज़्यादा जटिल थी। दिक्कत यह थी कि उन्नीसवीं शताब्दी के डॉक्टरों के सामने प्रसूति बुखार के बारे में एक से ज़्यादा लगभग बराबर वज़नी

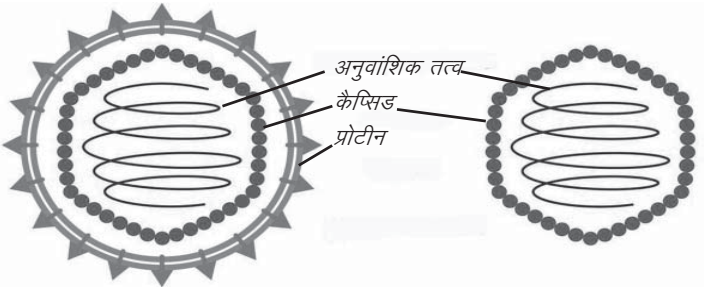

चित्र-2: *एक आवरणधारी वायरस (बाएँ) और एक बिना आवरण वाला वायरस (दाएँ) का रेखाचित्र। सार्स-कोव-2 (SARS-CoV-2) और अन्य कोरोना वायरस आवरणयुक्त होते हैं, जिसका अर्थ है कि उनके पास एक वसायुक्त बाहरी सतह होती है और साबुन के सम्पर्क से वसा को तोड़कर नष्ट किया जा सकता है।*

स्पष्टीकरण मौजूद थे। मसलन, एक तगड़ा विश्वास यह था कि इसका कारण अस्पताल की दूषित हवा (miasmas of the air) है। और यह बात भी अजीब थी कि सेमेलवाएस अपने सिद्धान्त के पीछे के तर्क और स्पष्टीकरण के बारे में कुछ भी प्रकाशित करने से इन्कार करते रहे, और जानवरों पर विश्वसनीय प्रयोग करके अपने सिद्धान्त को साबित करने से भी। बजाय इसके उन्होंने प्रमाण की माँगों को व्यक्तिगत अपमान की तरह लिया और अपने आलोचकों पर अत्यन्त खूंखार तरीके से (viciously) हमले किए। उनके सिद्धान्त पर सवाल उठाने वाले विएना विश्वविद्यालय के एक प्रसूती विशेषज्ञ को उन्होंने लिखा, "(और) आप, जनाब प्रोफेसर, इस कत्ल में हिस्सेदार रहे हैं।" वुर्ज़बर्ग के एक सहकर्मी को उन्होंने लिखा, "अगर आप, जनाब हॉफ्राथ, अगर आप मेरे सिद्धान्त को गलत साबित किए बगैर ही अपने विद्यार्थियों को (उसके विपरीत) पाठ पढ़ाते रहे, मैं ऊपरवाले और पूरी दुनिया को हाज़िर-नाज़िर कर यह घोषणा करता हूँ कि आप एक हत्यारे हैं और प्रसूती बुखार के इतिहास ने अगर आपको एक चिकित्सकीय नीरो की तरह याद रखा तो यह नाइन्साफी नहीं होगी।" उनका अपना स्टाफ ही उनके खिलाफ हो गया था। विएना में अपना पद खो देने के बाद वे पेस्ट नामक जगह पर चले गए। वहाँ भी वे सिंक के बाजू में खड़े हो जाते थे और जो भी अपने हाथ रगड़ना भूल जाए, उनको डाँट लगाते रहते थे। लोग उनके हाथ धोने की कवायद से जान-बूझकर कन्नी काटने लगे। कुछ तो उसमें व्यवधान पैदा करने में सक्रिय हो गए।

सेमेलवाएस एक जीनियस थे, पर वे निरे पागल भी थे, और इस बात ने उन्हें एक नाकामयाब जीनियस बना दिया। इस बात को पूरे 20 साल और लग गए और तब जोसेफ लिस्टर ने ब्रिटिश मेडिकल जर्नल लैंसेट में शल्यचिकित्सा (सर्जरी) में संक्रमण के रोकथाम (antisepsis) पर अपनी स्पष्ट, ज़्यादा प्रभावी और अधिक सम्मान-जनक अपील प्रस्तुत की।

डेढ़ सौ साल में भी नहीं सीखा हमने

तथापि, डॉक्टरी प्लेग के एक सौ चालीस साल बाद आपको सोचना पड़ता है कि उन्हें रोकने के लिए शायद एक पागल की ही ज़रूरत है। गौर फरमाइए कि योकोइ और मैरिनो को किसका सामना करना पड़ता है। इन्सानी चमड़ी का कोई ऐसा भाग नहीं जो बैक्टीरिया से बचा हुआ हो। अकेले हथेली पर मौजूद बैक्टीरिया की गिनती करें तो हर वर्ग सेंटीमीटर में पाँच हज़ार से लेकर पचास लाख तक कॉलोनी बनाने वाली इकाइयाँ पाई जाती हैं। बालों, बगल और जाँघों के बीच की जगह पर आबादी का

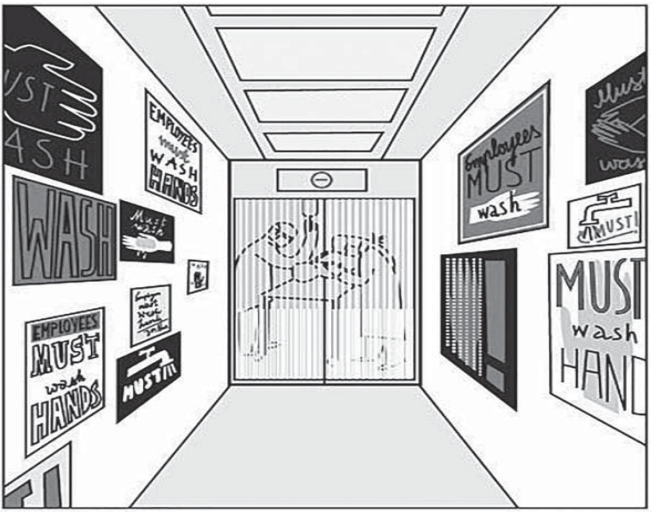

चित्र-3

घनत्व इससे बहुत ज़्यादा होता है। हथेलियों की चमड़ी की सलवटें बैक्टीरियाई आबादी की 10 से 20 प्रतिशत को अपने में दबाए रखती हैं जो रगड़-रगड़कर साफ करने से भी नहीं हटती, और स्टरलाइज़ेशन भी असम्भव होता है। सबसे बुरी जगह नाखूनों के नीचे वाली है। इसलिए हाल के CDC के दिशानिर्देशों में कहा गया है कि अस्पताल के कर्मचारियों को अपने नाखून कटे रखना ज़रूरी है, उनकी लम्बाई एक-चौथाई इंच से अधिक नहीं हो सकती और वे कृत्रिम नाखून नहीं पहन सकते।

आम साबुन, संक्रमण-नाशक होने का काम मध्यम दर्जे का ही कर पाते हैं। उनमें मौजूद डिटर्जेंट ऊपरी धूल-मिट्टी-गन्दगी को तो साफ कर देते हैं, पर 15 सेकण्ड तक हाथ धोने पर बैक्टीरिया की मात्रा लगभग दसवें भाग (10 प्रतिशत) तक ही बचती है। सेमेलवाएस ने यह बात पहचान ली थी कि आम साबुन काफी नहीं है, और संक्रमण-रहित बनाने के लिए क्लोरीन का इस्तेमाल करने लगे थे। आज के बैक्टीरिया-रोधी साबुनों में क्लोरहेक्सीडीन जैसे रसायन रहते हैं जो रोगाणुओं की बाहरी झिल्ली और प्रोटीन कवच को भेद सकते हैं। पर सही साबुन हो तब भी सही तरीके से हाथ धोने के लिए एक नियत पद्धति का कड़ाई से पालन करना होता है। पहले आप को अपनी घड़ी, अँगूठियाँ और बाकी ज़ेवरात (जो कि बैक्टीरिया के गढ़ बनने के लिए बदनाम हैं) उतारना होता है। फिर आपको

कुनकुने गर्म पानी में हाथों को भिगोना होता है। फिर साबुन लगाकर झाग को हथेलियों और बाहों के निचले एक-तिहाई हिस्से पर 15 से 30 सेकण्ड तक (साबुन के पैकेट पर लिखे अनुसार) मलते रहें। फिर 30 सेकण्ड तक झाग को अच्छी तरह धो डालें। साफ और सूखे डिस्पोज़ेबल तौलिए से हाथों को अच्छे से सुखाकर पोंछ लें। फिर तौलिए की मदद से नल को बन्द कर दें। हर बार किसी नए मरीज़ से सम्पर्क में आने के बाद इस पूरे चक्र को दोहराएँ।

लगभग कोई भी इस पद्धति को अमल में नहीं लाता है। यह असम्भव लगता है। सुबह के राउंड लेते हुए हमारे रेसिडेंट डॉक्टर हर मंज़िल पर 20-20 मरीज़ों को देखते हैं। हमारी गहन चिकित्सा इकाई (intensive care unit) में काम करने वाली नर्स लगभग इतनी ही संख्या में मरीज़ों की देखभाल करती हैं जिसके बीच में हाथ धोने की ज़रूरत होती है। अगर आप इस पूरे हाथ धुलाई के चक्र को प्रति मरीज़ एक मिनट पर भी ले आएँ, तब भी पूरे स्टाफ का लगभग एक-तिहाई समय हाथ धोने में लगेगा।

आसान विकल्प, परन्तु फिर भी ...

बार-बार हाथ धोने से त्वचा में परेशानी (खुजली आदि) भी हो सकती है। इससे डरमाटाइटिस (dermatitis) जैसी बीमारी भी हो सकती है जो खुद बैक्टीरिया को बढ़ाती है। साबुन से कम परेशान करने वाले एल्कोहॉल वाले जेल (gel) यूरोप में कई सालों से प्रचलन में हैं परन्तु अमरीका में ये अभी हाल में ही इस्तेमाल में आए हैं। इनके इस्तेमाल में समय भी कम लगता है - बस 15 से 20 सेकण्ड में जेल को हथेलियों और उँगलियों पर अच्छे-से मला जा सकता है और हवा उसे सुखा देती है। इस तरह के जेल या हैंडवॉश की बोतलें हर बेड के पास रखी जा सकती हैं और सिंक की ज़रूरत नहीं पड़ती है। और 50 से 95 प्रतिशत तक एल्कोहॉल वाले जेल बैक्टीरिया को मारने में भी अधिक सक्षम होते हैं। (यहाँ रोचक बात यह है कि 100 फीसदी एल्कोहॉल से काम नहीं बनता है। सूक्षमजीवी प्रोटीन की प्रकृति को बदलने के लिए एल्कोहॉल के साथ थोड़ा पानी मिला होना ज़रूरी होता है।) फिर भी योकोई को उस 60 फीसदी एल्कोहॉल वाले जेल को, जिसे हमने हाल में अपनाया है, हमारे स्टाफ द्वारा स्वीकार करवाने में एक साल से ज़्यादा लग गया। इसके इस्तेमाल को सबसे पहले यह कहकर रोका गया कि इससे इमारत में अस्वास्थ्यकर हवा भर जाएगी (जो कि नहीं हुआ)। फिर, प्रमाणों के विपरीत जाकर भी, ये चिन्ताएँ जताई जाने लगीं कि इससे त्वचा में तकलीफ बढ़ जाएगी। तो ग्वारपाठा (aloe vera) युक्त एक जेल लाया गया। लोगों ने गन्ध की शिकायत की।

इसलिए ग्वारपाठा रहित व्यवस्था की गई। फिर कुछ नर्सों ने उसका इस्तेमाल करने से मना कर दिया क्योंकि एक अफवाह फैल गई थी कि इससे उर्वर क्षमता कम हो जाती है। अफवाहों पर लगाम तभी लग पाई जब संक्रमण नियंत्रण इकाई ने इस बात के सबूत उपलब्ध कराए कि इस तरह से हाथ साफ करने पर एल्कोहॉल शरीर में सोख नहीं लिया जाता है। साथ ही, अस्पताल के उर्वरता-विशेषज्ञ ने जेल के उपयोग का अनुमोदन किया।

आखिरकार जेल के व्यापक उपयोग के बाद हाथों की स्वच्छता के अनुपालन की दर में काफी सुधार आया – यह लगभग 40 फीसदी से 70 फीसदी हो गया। लेकिन – और यह परेशानी वाली बात थी – अस्पताल के संक्रमण की दर रत्ती भर भी कम नहीं हुई। हमारा 70 प्रतिशत अनुपालन किसी काम का नहीं था। अगर 30 प्रतिशत बार लोग अपने हाथ न धोएँ, तो इससे ही संक्रमणों के फैलने की प्रचुर सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। वाकई, (इस दौर में भी) प्रतिरोधी स्टैफायलोकोकस और एंटेरोकोकस संक्रमणों की दरें लगातार बढ़ती रहीं। योकोइ इसकी हर दिन की तालिकाएँ देखती हैं। कुछ दिन पहले मैंने उनसे चेक किया, और पाया कि हमारे अस्पताल में भर्ती 700 मरीज़ों में से 63 में एम.आर.एस.ए. (MRSA – यानी मिथायलीन प्रतिरोधी स्टैफायलोकोकस ऑरियस) की कॉलोनियाँ या संक्रमण पाया गया था। और 22 अन्यों को वी.आर.ई. (VRE – वैंकोमाइसीन प्रतिरोधी एंटेरोकोकस) हो गया था। बदकिस्मती से, अमरीकी अस्पतालों में संक्रमण की यही आम दर है।

योकोइ और मैरिनो के प्रयास

महाप्रतिरोधी (super resistant) बैक्टीरिया के कारण बढ़ते संक्रमण की दरें दुनियाभर में आम हो चली हैं। VRE का पहला हमला 1988 में हुआ था, जब इंग्लैण्ड की एक डायलिसिस इकाई में यह फैल गया था। 1990 तक आते-आते बैक्टीरिया विदेशों तक पहुँच गया था, और अमरीका में गहन चिकित्सा इकाई के मरीज़ों में से हर एक हज़ार पर 4 मरीज़ इससे संक्रमित हुए थे। चौंकाने वाली बात यह थी कि 1997 तक तो गहन चिकित्सा इकाई के 23 फीसदी मरीज़ इससे संक्रमित होने लगे थे।

सन् 2003 में जब चीन में SARS (अत्यधिक तीव्र श्वास सम्बन्धी लक्षण) कोरोना वायरस ने अपना असर दिखाया और जब चन्द हफ्तों में ही वह दुनिया भर के दो दर्जन देशों के लाखों लोगों तक पहुँच गया, तब उसे फैलाने वाले प्रमुख कारक थे स्वास्थ्य-कर्मियों के हाथ। तब क्या होगा अगर (या यों कहें कि जब) कोई इससे भी खतरनाक सूक्ष्मजीव प्रकट हो – जैसे

कि बर्ड-फ्लू, या कोई और भी सक्रिय और संक्रामक बैक्टीरिया? योकोइ कहती हैं, "तब तो तबाही मच जाएगी।" ऐसा लगने लगा है कि हाथ धोने के बारे में सेमेलवाएस जैसे पागलपन से कम कुछ भी नाकाफी है। योकोइ, मैरिनो और उनके सहकर्मियों ने इन दिनों अलग-अलग मंज़िलों पर औपचारिक निरीक्षण शुरू कर दिया है। उन्होंने मुझे दिखाया कि वे किसी शल्य चिकित्सा गहन देखभाल इकाई में क्या करती हैं। वे अचानक, बिन बताए वहाँ पहुँच जाती हैं। वे सीधे ही मरीज़ों के कमरों में जाती हैं। लावारिस पड़ी दवा या पट्टी की, गन्दे टॉयलेटों की, टपकते नलों की, जेल के खाली पड़े डिब्बों की, ठसाठस भरे सुई के डिब्बों की, दस्तानों और गाउन की कमी आदि की चेकिंग करती हैं। वे देखती हैं कि क्या मरीज़ की पट्टी बदलते या केथीटर (पेशाब की थैली वाली नली) लगाते हुए नर्स हाथों में दस्ताने पहनती हैं कि नहीं। ये दोनों ही संक्रमण के गढ़ हो सकते हैं। और फिर वे ये भी देखती हैं कि क्या सभी लोग मरीज़ के सम्पर्क में आने से पहले हाथ साफ कर रहे हैं कि नहीं। दोनों में से कोई भी लोगों से सीधे बात करने से नहीं घबराती हैं, हालाँकि, वे यह काम नरमी से करती हैं। ("क्या आप हाथों पर जेल लगाना भूल गए हैं?" – यह उनका पसन्दीदा वाक्य है।)

स्टाफ के लोग उन्हें पहचानने लगे हैं। मैंने एक बार देखा कि एक दस्ताने और गाउन पहनी नर्स ने मरीज़ के कमरे से बाहर आते ही मरीज़ के चार्ट को उठा लिया (जिसे गन्दे हाथों से छूना मना है), फिर मैरिनो को देखकर एकदम रुक-सी गई। "मैंने कमरे में कुछ भी नहीं छुआ! मैं साफ हूँ," उसने जल्दी-से कहा।

योकोइ और मैरिनो अपने काम के इस हिस्से से नफरत करती हैं। वे संक्रमण पुलिस नहीं बनना चाहती हैं। न तो यह मज़ेदार है, और न ही इस तरह से उनका काम प्रभावी हो पाता है। (अस्पताल की इमारत में) 12 मंज़िल हैं और हर मंज़िल पर 4-4 मरीज़ों के इलाके (विंग) हैं। इतने बड़े तामझाम में वे उस तरह से निगरानी नहीं कर सकतीं जिस तरह से सेमेलवाएस करते थे – अपने अस्पताल के एकमात्र सिंक के पास त्यौरियाँ चढ़ाकर खड़े होकर। और जिस तरह उनके स्टाफ ने उनका विरोध किया था, वही खतरा ये दोनों भी मोल लेती हैं – स्टाफ के विद्रोह का। पर इसके अलावा उपाय ही क्या है?

मैंने अस्पताल संक्रमण और संक्रमण नियंत्रण जर्नल तथा अस्पताल एपिडेमियोलॉजी जर्नल के पुराने अंकों को उलट-पलटकर देखा। ये दोनों ही इस क्षेत्र की अग्रणी पत्रिकाएँ हैं। इनमें छपे सारे लेख हमारे गन्द फैलाने के तरीकों को

बदलने के असफल प्रयोगों की दुखभरी दास्तानों से पटे पड़े थे। हमेशा से ही इस समस्या के लिए जो हल उम्मीद देता रहा है, वह है साबुन या हैंडवॉश - जो हमारी त्वचा को घण्टों तक संक्रमण-मुक्त बनाए रखेगा और हमें अच्छा होने में मदद करेगा। पर कोई ऐसा मिला ही नहीं। इस परिस्थिति के कारण एक विशेषज्ञ ने - कुछ-कुछ मज़ाक में ही - कहा है कि इसका सबसे बेहतरीन उपाय यह है कि हाथ धोने की बात ही छोड़ दें और साथ ही मरीज़ों को छूना भी बिलकुल बन्द कर दें। हम हमेशा किसी ऐसी जादू की छड़ी वाले हल की तलाश में रहते हैं जो बहुत आसान हो। जो एक झटके में समस्या को सुलझा दे। पर ज़िन्दगी में कम ही चीज़ें होती हैं जो इस तरह काम करती हैं। इसकी बजाय, कामयाबी के लिए ज़रूरी होता है कि सैकड़ों छोटे-छोटे कदम सही दिशा में काम करें - एक के बाद एक, बिना किसी गफलत के, बिना नागा के, सबकी भागीदारी के साथ।

दोहरी मानसिकता - ऑपरेशन कक्ष के अन्दर और बाहर

हम डॉक्टरी काम को अकेले किया जाना वाला एक बौद्धिक काम समझते हैं। पर चिकित्सा के काम को ठीक-से करना कठिन निदान देना कम और सभी को हाथ धुलवाने को बाध्य करना ही अधिक है। यह देखना चौंकाने वाला है कि शल्य चिकित्सा (ऑपरेशन) कक्ष की कहानी लिस्टर के बाद से सेमेलवाएस के समय से कितनी फर्क है। ऑपरेशन कक्ष में किसी को यह बहाना करने की भी छूट नहीं होती कि साफ-सफाई की प्रक्रिया की 90 फीसदी अनुपालना ही काफी है। अगर एक भी डॉक्टर या नर्स ऑपरेशन टेबल पर आने से पहले पूरी तरह से खुद की धुलाई-सफाई न करे, तो हम आतंकित हो जाते हैं - और अगर उस मरीज़ को कुछ ही दिनों बाद कोई संक्रमण हो जाए, तो हमें कोई हैरानी नहीं होती। लिस्टर के बाद से हम अपनी अपेक्षाओं में और आगे निकल आए हैं। अब हम संक्रमण-मुक्त किए गए दस्ताने और गाउन पहनते हैं, मुँह पर मास्क लगाते हैं और बालों को टोपी में कैद रखते हैं। हम मरीज़ की चमड़ी पर एंटीसैप्टिक मलते हैं और

संक्रमण-मुक्त कपड़े बिछाते हैं। हम अपने औज़ारों को ताप-भाप-स्टेरलाइज़र से संक्रमण-मुक्त करते हैं, और अगर औज़ार ऑटोक्लेव के तापमान को सहन करने लायक न हों तो उनका रासायनिक स्टरलाइज़ेशन किया जाता है।

एंटीसेप्सिस (यानी संक्रमण के कारण घावों के पकने और पस बनने को रोकना) की खातिर हमने ऑपरेशन कक्ष की लगभग हर बारीकी को फिर से ईजाद किया है। यहाँ तक कि हमने (ऑपरेशन) टीम में एक अतिरिक्त व्यक्ति तक रखा है। इन्हें हम सरकुलेटिंग नर्स कहते हैं और इनका मुख्य काम होता है कि (ऑपरेशन की) टीम को एंटीसेप्टिक बनाए रखें। जब भी किसी ऐसे औज़ार की ज़रूरत होती है जिसकी दरकार का पहले से पता नहीं था, तो पूरी टीम उतनी देर तक रुकी नहीं रह सकती कि उनमें से एक सफाई के सुरक्षा घेरे से बाहर जाकर वह औज़ार ले, फिर खुद की सफाई करे और फिर वापस आए। इसीलिए सरकुलेटर को ईजाद किया गया। सरकुलेटर उन अतिरिक्त स्पंजों और औज़ारों को लाते हैं, फोन कॉल उठाते हैं, कागज़ी काम करते हैं, जब मदद की ज़रूरत हो तो वह मुहैया कराते हैं। और हर बार जब वे यह काम करते हैं, तो न सिर्फ वे बाकियों के काम को आसान बना देते हैं, वे मरीज़ को संक्रमण से बचाए भी रखते हैं। सरकुलेटरों के होने मात्र से हर मामले में संक्रमण-रहितता प्राथमिकता बन जाती है। हमारे अस्पतालों में महामारियाँ फैलने से रोकने में समस्या अज्ञान की नहीं है – क्या करें, इसकी जानकारी की कमी नहीं है। यह जानकारी के आधार पर अनुपालन की समस्या है – समस्या जानकारी को सही तरीके से काम में लागू करने की है।

पर अनुपालन को सुनिश्चित करना कठिन है। ऑपरेशन कक्ष की स्वच्छता के प्रति सतर्कता और नुकताचीनी 140 साल बाद भी अस्पताल के ऑपरेशन कक्ष के दोहरे दरवाज़ों के बाहर क्यों नहीं पहुँच पाई है, यह एक रहस्य है। वे लोग जो ऑपरेशन कक्ष में सबसे ज़्यादा ध्यान रखते हैं, अक्सर वही लोग अस्पताल के वार्डों में सबसे कम सावधानी बरतते हैं। मैं यह बात जानता हूँ क्योंकि मैंने पाया है कि मैं भी उनमें से एक हूँ। आम तौर पर मैं अपने हाथ धोने को लेकर उतना ही चौकस ऑपरेशन कक्ष के अन्दर रहता हूँ जितना कि मैं बाहर रहता हूँ। और मैं यह काम बखूबी कर लेता हूँ, अगर मैं खुद ही यह बात आपको बताऊँ तो। पर फिर मैं (सुखाने के लिए) उन पर फूँकता हूँ। यह लगभग हर दिन होता है। मैं मरीज़ के कमरे में दाखिल होता हूँ, और मैं सोच रहा हूँ कि मरीज़ को उसके ऑपरेशन के बारे में मुझे क्या बताना है, या उसके

परिवार के बारे में सोचता हूँ, जो सम्भवतः वहाँ उसे घेरकर खड़े हों और काफी चिन्तित हों, या किसी जूनियर डॉक्टर द्वारा बताए किसी मज़ेदार लतीफे के बारे में, और मैं पूरी तरह भूल जाता हूँ कि मुझे वह जेल को थोड़ा-सा अपने हाथों पर लेकर मल लेना है। चाहे कितने ही नोटिस दीवार पर वहाँ चस्पा किए गए हों, मैं भूल जाता हूँ। कभी-कभी मुझे यह बात याद रहती है, पर जब तक मैं जेल की बोतल देखूँ, मरीज़ अपना हाथ मेरी ओर बढ़ा देते हैं और मुझे लगता है कि आगे बढ़कर उसका हाथ न थाम लेना बहुत अजीब होगा। कभी-कभी तो मैं यह तक सोच लेता हूँ कि, भाड़ में जाए – मुझे देर हो रही है, मुझे जल्दी-से काम की ओर बढ़ना है, और मैं बस इस एक बार क्या करता हूँ, उससे क्या फर्क पड़ता है।

एक सफल परन्तु सीमित प्रयास

कुछ साल पहले पॉल ओ'नील, जो (अमरीका के) राजकोष के सचिव और एलकोआ नाम की अल्युमिनियम बनाने वाली कम्पनी के सी.ई.ओ. (मुख्य कार्यपालक अधिकारी) हैं, पिट्सबर्ग, पेनसिलवेनिया की एक स्थानीय स्वास्थ्य सेवा पहल के प्रमुख बनने को राज़ी हुए। और उन्होंने अपनी सबसे अधिक प्राथमिकता वाले कामों में अस्पताल के संक्रमणों की समस्या को सुलझाना शामिल किया। यह दिखाने के लिए कि यह समस्या सुलझाई जा सकती है, उन्होंने पीटर पेरियाह नामक एक युवा औद्योगिक इंजीनियर को पिट्सबर्ग के एक पुराने अस्पताल की एकमात्र 40 बिस्तर वाली सर्जिकल इकाई में रखा। जब वे उस इकाई के स्टाफ से मिले, एक डॉक्टर ने उन्हें बताया, "पीटर हमसे यह नहीं पूछते कि आप हाथ क्यों नहीं धो लेते?" वे पूछते हैं, "आप हाथ क्यों नहीं धो सकते?" ज़्यादातर मामलों में जवाब समय के बारे में होता। तो एक इंजीनियर होने के नाते वे उन चीज़ों को दुरुस्त करने में जुट गए जो स्टाफ के समय को खा जाते थे। उन्होंने एक बिलकुल-समय-पर वाली (सामग्री की) सप्लाई व्यवस्था बनाई जिसमें न केवल दस्ताने और गाउन बिस्तर के एकदम पास मिल जाते थे, बल्कि रूई और टेप और ऐसी हर चीज़ जो स्टाफ को कभी भी लग सकती थी और जिसे लेने बार-बार अन्दर-बाहर होना पड़ता था। बार-बार हर किसी से हर दो मरीज़ की जाँच के बीच में स्टेथोस्कोप की सफाई करवाने की जगह – स्टेथोस्कोप जो संक्रमण फैलाने के लिए बदनाम हैं – उन्होंने हर मरीज़ के कमरे में स्टेथोस्कोप टाँगने के लिए एक निश्चित जगह बना दी। उन्होंने ऐसे दर्जनों सरल बदलावों को अमल में लाने में मदद की जिससे संक्रमण के फैलने के मौके कम हो सकें और स्टाफ के

लिए साफ-सफाई कायम रखने की कठिनाई भी दूर हो सके। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्होंने अस्पताल के हर कमरे को ऑपरेशन कक्ष के जैसा बना दिया। उन्होंने यह भी व्यवस्था की कि भर्ती के समय हर मरीज़ की नाक से स्वैब लेकर उसका कल्चर किया जाए - भले ही मरीज़ संक्रमित लगे या नहीं। इस तरह से स्टाफ को पता चल जाता था कि किस मरीज़ के शरीर में प्रतिरोधी बैक्टीरिया मौजूद हैं और वे उनके लिए अधिक कारगर सावधानियाँ काम में ला सकते थे। इस रणनीति को कभी-कभी "खोजो और खत्म करो" (search and destroy) कहा जाता है।

MRSA - जो अस्पताल जनित संक्रमणों में सबसे ज़्यादा मौतों का कारण बनता है - लगभग 90 फीसदी कम हो गया। पहले इससे संक्रमित मरीज़ों की संख्या 4 से 6 प्रतिमाह हुआ करती थी, अब साल भर में इतने मरीज़ MRSA से संक्रमित होते हैं। बहरहाल, दो साल बाद भी, हौसलाअफज़ाही और उपदेश-नसीहतों के बावजूद - ये विचार अस्पताल की केवल एक और इकाई तक फैले। बाकी की इकाइयों में पेरियाह नहीं थे। और जब वे किसी और काम से उस मूल इकाई से चले गए, तो वहाँ भी अनुपालन के आँकड़े गिरने लगे। ओ'नील ने प्रगति न होने के कारण निराशा और कुण्ठा के चलते स्वास्थ्य सेवा पहल के प्रमुख का पद छोड़ दिया। बुनियादी रूप से कुछ भी नहीं बदला था। लेकिन, कुछ बदल सकता है, यह भरोसा भी मरा नहीं था।

एक अलग तरह की कोशिश

जोन लॉएड, एक शल्यचिकित्सक जिन्होंने इस पहल में पेरियाह की मदद की थी, इस बात पर सोच-विचार करते रहे कि क्या किया जा सकता है। और उनकी नज़र एक लेख पर पड़ी जो विएतनाम में बच्चों में कुपोषण को कम करने की *सेव द चिल्ड्रेन* (Save the Children) की एक परियोजना पर था। लॉएड को लगा कि इस कहानी में पिट्सबर्ग के लिए एक पाठ था। टफ्ट्स विश्वविद्यालय के पोषण विशेषज्ञ जेरी स्टरनिन और उनकी पत्नी, मोनीक द्वारा चलाए जा रहे एक कुपोषण निवारण कार्यक्रम ने कुपोषित बच्चों के गाँवों में बाहर से समस्या के समाधान लाने की बात छोड़ दी थी। यह तरीका बार-बार असफल रहा था। हालाँकि, कुपोषण कम करने के तरीकों की जानकारी काफी समय से स्थापित थी - ज़्यादा पौष्टिक भोजन उगाना और बच्चों को प्रभावी तरीके से खिलाना - पर अधिकतर लोग, सिर्फ बाहर वालों के कहने पर, ऐसी आधारभूत बातों में बदलाव लाने को तैयार नहीं थे कि वे अपने बच्चों को क्या खाना खिलाएँ और कब खिलाएँ।

इसलिए स्टरनिन दम्पती ने अन्दरवालों से ही हल ढुँढ़वाने पर ज़ोर दिया। उन्होंने ग्रामीणों के छोटे

समूहों को यह पता लगाने को कहा कि उनमें से किसके बच्चे सबसे तन्दुरुस्त थे, किन लोगों ने, स्टरनिनों की भाषा में, सामान्य प्रथा की वजह से सकारात्मक विचलन (positive deviance) दिखाया था। तब गाँववासियों ने उन माँओं के घर में जाकर देखा कि वे दरअसल ठीक क्या-क्या करती थीं। बस, उतना ही क्रान्तिकारी था। गाँववासियों को पता चला कि गरीबी के बावजूद, उनके बीच भी हृष्टपुष्ट बच्चे थे और उनकी माएँ स्थानीय रूप से मान्य सूझबूझ को तोड़ रही थीं – हर तरह से। जैसे, वे अपने बच्चों को तब भी स्तनपान करवा रही थीं जब उन्हें दस्त लगे हों, दिन भर में बच्चों को 1-2 बार ढेर सारा दूध पिलाने की बजाय कई बार थोड़ा-थोड़ा दूध पिला रही थीं, बच्चों के चावल में रतालु के पत्ते उबालकर दे रही थीं – इस बात के बावजूद कि इसे एक निम्नवर्गीय भोजन माना जाता था। और ये विचार फैलने लगे, वे अपने पाँव जमाने लगे। प्रोजेक्ट के तहत नतीजों को मापा जाने लगा और गाँववालों के देखने के लिए इन सकारात्मक नतीजों को गाँव में चस्पा कर दिया जाता था ताकि सभी इन्हें देख पाएँ। दो साल में हर उस गाँव में जहाँ स्टरनिन दम्पति गया था, कुपोषण 65 फीसदी से 85 फीसदी तक कम हो गया।

लॉएड को सकारात्मक विचलन वाला विचार जँच गया। इसके लिए लोगों को अपनी आदतों को बदलने को कहने की बजाय जिस चीज़ में वे अच्छे थे, उन्हें उसी पर काम करने को कहा जाता था। मार्च 2005 तक उन्होंने और पेरियाह ने मिलकर अस्पताल के नेतृत्व को संक्रमणों से जूझने में सकारात्मक विचलन पद्धति को अपनाने के लिए राज़ी कर लिया था। लॉएड ने तो स्टरनिन दम्पती को भी उनके साथ काम करने को मना लिया। साथ मिलकर उन लोगों ने हर स्तर के स्वास्थ्य सेवा कर्मियों के साथ आधे-आधे घण्टे की छोटी समूह चर्चाएँ (small group discussions) कीं। इनमें भोजन व्यवस्था वाले लोग, गार्ड, नर्स, डॉक्टर, स्वयं मरीज़ – सभी शामिल थे। हर बैठक की शुरुआत टीम इस बात से करती थी, सार में, "हम यहाँ अस्पताल-जनित संक्रमण की समस्या के कारण इकट्ठा हुए हैं। और हम जानना चाहते हैं कि इसके बारे में आप क्या जानते हैं कि इसका हल कैसे जाए।" कोई आदेश नहीं, कोई चार्ट नहीं, न ही विशेषज्ञों की राय कि ऐसे में क्या करना चाहिए। जेरी स्टरनिन कहते हैं, "अगर हमारे पास (अपने लिए) कोई मंत्रवाक्य था, तो वह यह कि – हमें किसी समस्या को सुलझाने की कोशिश नहीं करनी है।"

विचार उमड़ते आए। लोगों ने उन जगहों के बारे में बताया जहाँ हैंड-जेल की बोतलें नहीं रखी हैं, गाउन और दस्ताने कम न पड़ें उसके उपाय बताए, उन नर्सों के बारे में बताया जो

हर हालत में हाथ धो ही लेती थीं और अपने मरीज़ों को भी प्रेरित कर पाती थीं कि वे अपने हाथ धोते रहें। कई लोगों ने कहा कि ऐसा पहली बार हो रहा था कि कोई उनसे पूछे कि क्या करना है। (व्यवहार के) चलन बदलने लगे। जब 40 नए हैंड-जेल की बोतलें आईं तो स्टाफ के लोगों ने उन्हें सबसे उपयुक्त जगह पर रखने की ज़िम्मेदारी खुद ले ली। जो नर्स डॉक्टर के हाथ न धोने पर पहले कभी कुछ नहीं बोलती थीं, अन्य नर्सों को ऐसा करते देख, खुद भी वैसा करने लगीं। थेरेपी उपचार देने वाले 8 सदस्यों को लगता था कि हर मरीज़ के लिए दस्ताने पहनना हास्यास्पद है। उनके 2 सहकर्मियों ने उनको मना लिया कि ऐसा करना कोई बड़ी बात नहीं है, पर करना है। कोई भी विचार बिलकुल नए नहीं थे। स्टरनिन कहते हैं, "आठवीं समूह चर्चा के बाद से हम वही-वही बातें सुनने लगे। पर हम फिर भी लगे रहे, अगर वह समूह नम्बर 33 हो तब भी, क्योंकि यह पहली बार हो रहा था कि इन लोगों की बात सुनी जा रही थी। पहली बार उन्हें खुद के लिए नवाचार करने का मौका मिल रहा था।" टीम ने यह सुनिश्चित किया कि लोगों के विचारों और छोटी-छोटी कामयाबियों का प्रचार-प्रसार अस्पताल की वेबसाइट और न्यूज़लैटर के ज़रिए लगातार होता रहे। साथ ही, टीम ने बारीकी-से निगरानी रखने की भी व्यवस्था की। हर मरीज़ के नाक का स्वैब उसके भर्ती होते समय और अस्पताल से छुट्टी मिलते समय लिया जाने लगा। हर महीने वे अस्पताल की इकाई-दर-इकाई के नतीजे जारी करते रहे। प्रयोग के एक साल बाद – और इस क्षेत्र में प्रगति न होने के कई सालों बाद – पूरे अस्पताल में घाव के MRSA संक्रमण की दर शून्य पर आ गई। हाल ही में रॉबर्ट वुड जॉनसन फाउण्डेशन और ज्यूइश हेल्थकेयर फाउण्डेशन ने इस प्रयोग को देश के 10 और अस्पतालों में लागू करने के लिए कई लाख डॉलर का एक प्रयास शुरू किया है।

लॉएड चेताते हैं कि यह देखना बाकी है कि पिट्सबर्ग के नतीजे टिकेंगे कि नहीं। यह भी देखना बाकी है कि क्या इस कामयाबी को देश भर में दोहराया जा सकता है। पर और तो किसी भी चीज़ ने काम नहीं किया। और इस सदी में किसी समस्या के हल के लिए यही सबसे आकर्षक विचार है।

उपसंहार

योकोइ और मैरिनो के साथ मेरे दौरे के दौरान हम अस्पताल की एक साधारण इकाई से गुज़र रहे थे। और मुझे चीज़ें वैसी नज़र आने लगीं, जैसा वे देखती हैं। मरीज़ों के कमरों से थेरेपी उपचार देने वाले, नर्स, मरीज़ की देखभाल करने वाले स्टाफ के लोग, पोषण विशेषज्ञ, रेसिडेंट

डॉक्टर, मेडिकल के विद्यार्थी – सभी आ-जा रहे थे। इनमें से कुछ हाथ धोने में निपुण थे। कुछ नहीं थे। योकोई ने दिखाया कि 8 कमरों में से 3 में चटक पीले सावधानी के नोटिस लगे थे – क्योंकि इनमें जो मरीज़ थे उन्हें MRSA या VRE हो गया था। बस, तभी मुझे खयाल में आया कि हम उस मंज़िल पर थे जहाँ मेरा भी एक मरीज़ भर्ती था। वो चटक पीले नोटिसों में से एक उसके दरवाज़े पर टँगा था। वे 62 साल के एक बुज़ुर्ग थे जो लगभग 3 हफ्ते से अस्पताल में भर्ती थे। किसी दूसरे अस्पताल से वे सदमे की स्थिति में यहाँ लाए गए थे जहाँ उनका ऑपरेशन बिगड़ गया था। मैंने फौरन आपात स्थिति में उनकी स्पीनेक्टॉमी की थी। फिर जब खून का बहाव नहीं रुका तो एक और ऑपरेशन करना पड़ा था। उनके पेट का घाव खुला हुआ था और वे खा नहीं सकते थे। उन्हें शिराओं के ज़रिए (intravenous) पोषक आहार दिया जा रहा था। पर वे ठीक हो रहे थे। भर्ती होने के 3 दिन बाद उन्हें गहन चिकित्सा इकाई से बाहर लाया गया था। प्रतिरोधी बैक्टीरिया के लिए उनकी शुरुआती निगरानी जाँचों के नतीजे एकदम निगेटिव थे। पर भर्ती के दस दिन बाद फिर से की गई जाँचों में MRSA और VRE, दोनों के नतीजे पॉज़िटिव आए। इसके कुछ दिनों बाद उन्हें बुखार आने लगा – 102 डिग्री तक। उनका रक्तचाप गिरने लगा, दिल की धड़कन तेज़ होने लगीं। उन्हें सेप्सिस हो गया था। उनका सेंट्रल लाइन – पोषण के लिए उनकी जीवनरेखा – संक्रमित हो गई थी, और हमें उसे निकालना पड़ा। उस क्षण तक जब मैं उनके कमरे के दरवाज़े पर लगे उस पीले नोटिस को देख रहा था, यह बात मुझे सूझी नहीं थी कि ऐसा हो सकता है कि मैंने ही उन्हें वह संक्रमण दिया हो। पर सच्चाई यही है कि ऐसा हो सकता है। हम में से किसी एक ने तो निश्चित ही ऐसा किया है।

अतुल गवांडे: दुनिया के प्रतिष्ठित डॉक्टरों में से एक हैं। आप 2006 के मैकआर्थर फैलो और एक सर्जन हैं। हार्वर्ड मेडिकल स्कूल में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर और बोस्टन के ब्रिघम अस्पताल में कार्यरत हैं। इसके साथ ही *न्यूयॉर्कर* पत्रिका के नियमित लेखक भी हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: टुलटुल बिस्वास: *एकलव्य*, भोपाल में कार्यरत। कई सालों तक बच्चों के सहज जीवन पर आधारित किताबें, पत्रिकाएँ और अन्य पठन सामग्री बनाने में अहम भूमिका निभाई। इन दिनों शिक्षक शिक्षा, प्रसार और पैरवी का काम कर रही हैं।

यह लेख अतुल गवांडे की किताब 'Better: A Surgeon's Notes on Performance' से साभार।

प्लेग का टीका, हाफकिन और बोतल नम्बर 53 N

माधव केलकर

आपने भारत में कुछ सौ-डेढ़-सौ साल पहले बार-बार होने वाली महामारी प्लेग के बारे में काफी कुछ सुना होगा। किसी छोटे शहर या बड़े शहर में प्लेग की दस्तक होने के साथ ही वहाँ के निवासी अपने-अपने घरों से ज़रूरी माल-असबाब उठाकर अपने परिवार के साथ कस्बे से बाहर एक छोटी झोपड़ी बनाकर उसमें रहने लगते थे। वे तब तक बाहर रहते थे जब तक कस्बे पर मण्डरा रहा प्लेग का खतरा खत्म न हो जाए।

प्लेग जैसी महामारी की रोकथाम के लिए टीका बनाने और प्लेग से सुरक्षा दिलवाने की पहल यूक्रेनियाई मूल के वैज्ञानिक व्लादिमीर हाफकिन (Waldemar Haffkine) ने की थी। हाफकिन (1860-1930) ने भौतिकी-गणित-प्राणी विज्ञान में कॉलेज स्तर की पढ़ाई करने के बाद स्विटज़रलैंड व फ्रांस की ओर रुख किया। यहाँ प्रोफेसर एली मेटनिकोफ (Elie Metchnikoff) के सान्निध्य में काम करते हुए उनकी रुचि एक-कोशीय जीवों के अध्ययन में बढ़ने लगी। यूरोप में उन्हें लुई पास्चर के साथ काम करने का मौका भी मिला। इन सबका परिणाम यह रहा कि वे एक बेक्टीरियोलॉजिस्ट के रूप में अपनी पहचान बनाने में सफल रहे।

कई दफा असावधानी से, दुर्भाग्य पूर्ण तरीके से, बेहद छोटी-सी लगने वाली घटना की वजह से या किसी एक इन्सान की गलती के कारण किसी रिसर्चर का करियर दाँव पर लग जाता है, कलंक का सामना करना पड़ता है। आप भी सोच रहे होंगे कि मैं क्या पहेलियाँ बुझा रहा हूँ। लेकिन ये पहेलियाँ नहीं, हाफकिन के साथ घटी एक घटना है। आइए, इसे थोड़ा विस्तार से जानते हैं।

प्लेग का टीका बनाना

हुआ कुछ यूँ था कि हाफकिन भारत में इंडियन सिविल सर्विसिज़ (चिकित्सा सेवाएँ) के तहत सन् 1893 से कलकत्ता की रिसर्च लैब में कार्यरत थे। भारत आने से पहले हाफकिन ने हैजा महामारी के लिए टीका बना लिया था और इसके इन्सानों पर परीक्षण के परिणाम भी

बेहतर रहे थे। भारत में भी कुछेक इलाकों में जहाँ हैजे का प्रकोप था, वहाँ इस हैजा वेक्सीन का उपयोग किया गया। भारत की ब्रिटिश सरकार ने भी टीके को कारगर पाया था।

1896 के आसपास बम्बई में प्लेग ने दस्तक दी। ब्रिटिश सरकार ने हाफकिन से अनुरोध किया कि वे प्लेग के लिए भी कुछ कार्य करें। हाफकिन ने बम्बई में ग्रांट मेडिकल कॉलेज की लैब (बॉम्बे लैबोरेटरी) में काम करते हुए प्लेग की रोकथाम वाला टीका बना लिया था। शुरू में उन्होंने खरगोश जैसे प्राणियों पर वेक्सीन का ट्रायल किया। जब सन्तोषजनक परिणाम मिले तो उन्होंने तय किया था कि पहले वे टीके को खुद पर ही आज़माएँगे। 10 जनवरी 1897 को हाफकिन ने टीके को खुद के शरीर पर टोंचा और खुद के शरीर पर इस टीके के क्या अच्छे-बुरे प्रभाव पड़ते हैं, इसे देखने लगे। सामान्यतः इंजेक्शन वाली जगह पर दर्द, शरीर में हल्का बुखार जैसे लक्षण ही दिखाई दिए। उनकी समझ में आया कि उनके शरीर पर टीके के

1896 में बम्बई में आया प्लेग का दौर जिसमें व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो गई थीं। उन दिनों प्लेग के मरीज़ों के लिए एक अस्थाई अस्पताल बनाया गया था। उसका एक दृश्य।

हाफकिन *- भारत में हैजा व प्लेग के टीके बनाने और टीकाकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।*

कोई भी बुरे परिणाम देखने को नहीं मिले हैं। अब उनका रास्ता खुल गया था कि वे इस टीके को अन्य इच्छुक व्यक्तियों पर आज़माकर देख सकते हैं। बम्बई में भायखला सुधारगृह के 154 कैदियों ने स्वेच्छा से टीका लगवाया। इनमें से 3 कैदियों की मृत्यु हुई, शेष स्वस्थ थे। टीकाकरण के बाद व्यक्ति के जीवित रहने की प्रत्याशा कितनी बढ़ती है, इसके लिए आँकड़े इकट्ठे हो रहे थे। जल्द ही कुछ सामान्य जनता ने भी टीके पर भरोसा दिखाया। यह सब देखकर हाफकिन को इस बात की तसल्ली हुई कि उनका ईजाद किया टीका इन्सानियत के काम आ रहा है।

सन् 1898 में बड़ौदा रियासत ने हाफकिन को बुलाया। यहाँ के उन्धेरा गाँव में प्लेग ने दस्तक दी थी। पूरे गाँव में सघन टीकाकरण अभियान चलाया गया। यहाँ के आँकड़ों से समझ आया कि प्लेग के टीके से शत-प्रतिशत सुरक्षा नहीं मिलती। मौत तो होती हैं, लेकिन मृतकों की संख्या काफी कम है।

इस सबके दौरान ही प्लेग से सम्बन्धित बॉम्बे लैबोरेटरी को बम्बई के परेल में ले जाया गया। इसका नाम प्लेग रिसर्च लैबोरेटरी रखा गया। यहाँ काम करने के लिए पर्याप्त जगह थी और भारत की ज़रूरत को देखते हुए बड़ी तादाद में प्लेगरोधी वेक्सीन का निर्माण व भण्डारण किया जा सकता था। हाफकिन प्लेगरोधी वेक्सीन बनाने के लिए जो तरीका अपना रहे थे, उसमें द्रव माध्यम में बेक्टीरिया वृद्धि करते थे, उनसे उत्पन्न एक्सट्रासेलुलर विष भी इसी द्रव में होता था। हाफकिन का मानना था कि कोई भी वेक्सीन सही मायने में तभी प्रभावी हो सकती है जब वो बेक्टीरिया के साथ-साथ एक्सट्रा-सेलुलर विष को भी खत्म कर सके। प्लेगरोधी वेक्सीन के ट्रायल व वेक्सीन कार्यक्रम के तहत जो आँकड़े

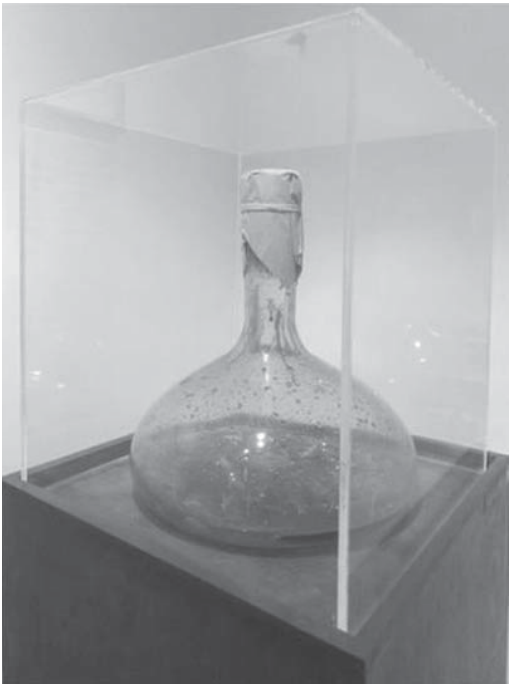

लैब की एक बोतल जिसमें थोड़ा द्रव शेष है। लेकिन माफ कीजिएगा यह बोतल नम्बर 53 N नहीं है।

मिले थे, उनसे यह स्पष्ट हो रहा था कि टीका लगाने के 24 घण्टे के भीतर यह काम करने लगती है। इसका असर 4-6 महीनों तक बना रहता है। प्लेग के मरीज़ों को भी वेक्सीन देने पर इसका प्रभाव होता है। इस सबकी वजह से मृत्युदर भी कम हुई।

भारत में प्लेगरोधी वेक्सीन को लेकर आलोचनाओं के स्वर भी मुखर हो रहे थे। इन सबको देखते हुए सन् 1899 में लंदन से एक प्लेग कमीशन भारत आया। प्लेग कमीशन ने भारत में प्लेग के स्वरूप को समझा, वेक्सीन कार्यक्रम व हाफकिन द्वारा वेक्सीन बनाने की विधि को समझा और अन्तर्राष्ट्रीय लैब में वेक्सीन बनाने के तरीकों से तुलना की। कुल मिलाकर प्लेग कमीशन, भारत में प्लेग को लेकर जो पहल हो रही थीं, उससे सन्तुष्ट था।

मलकोवाल में टीकाकरण

सन् 1895 से ही भारत के पंजाब प्रान्त में प्लेग की बार-बार पुनरावृति हो रही थी। ब्रिटिश सरकार ने पंजाब प्रान्त में टीकाकरण की मुहिम जल्द शुरू करने की योजना बनाई। ज़ाहिर-सी बात है कि पंजाब में टीकाकरण के लिए ज़रूरी तादाद में टीके बनाने की ज़िम्मेदारी हाफकिन की बॉम्बे लैबोरेटरी को सौंपी गई थी।

जल्द ही, बोतलों में भरकर टीकाकरण का तरल द्रव पंजाब पहुँचा दिया गया और सन् 1902 में टीकाकरण के तहत टीके लगाने का काम होशियारपुर ज़िले के मलकोवाल (Mulkowal) कस्बे में शुरू किया गया। वहाँ डॉक्टर ए.एम. इलियट के निर्देशन में टीकाकरण का काम शुरू हुआ। टीके की बोतल खोलते जाते थे

और लोगों को टीके लगाए जा रहे थे। 107 लोगों को टीके लगाए जा चुके थे। दुर्भाग्य से मलकोवाल में बोतल नम्बर 53 N से जिन 19 लोगों को टीके लगाए गए, उनकी चन्द रोज़ में मृत्यु हो गई। इन सभी 19 लोगों की मौत के साथ एक बात कॉमन थी कि इन सभी की मौत टिटेनस से हुई थी। जल्द ही यह खबर फैल गई और आम जनता का टीकाकरण पर से भरोसा उठने लगा। यह खबर जब हाफकिन को मिली तो उन्हें एक ज़बरदस्त झटका लगा। उन्हें इस घटना पर यकीन ही नहीं हो रहा था। 19 निर्दोष नागरिकों की मौत की ज़िम्मेदारी टीके पर डाली जा रही थी। अँग्रेज़ सरकार ने भी इस घटना को गम्भीरता से लेते हुए एक जाँच समिति का गठन किया। यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना 'मलकोवाल विपदा' (Mulkowal Disaster) के नाम से जानी जाती है।

जाँच समिति ने सन् 1903 में अपनी जाँच पूरी कर रिपोर्ट सरकार को सौंप दी। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि टीकाकरण के लिए आई बोतलों में मलकोवाल में टिटेनस संक्रमण फैलने की सम्भावना नहीं है। बोतल 53 N में भरे हुए तरल में टिटेनस के बैक्टीरिया पहले से मौजूद थे। समिति का विचार था कि बॉम्बे लैबोरेटरी ने तरल व बोतल को ठीक-से स्टरलाइज़ (संक्रमण-मुक्त, बैक्टीरिया-विहीन) नहीं किया होगा या टीके के तरल पदार्थ को बोतल में भरते समय पर्याप्त सावधानी नहीं बरती गई होगी जिसकी वजह से बोतल में टिटेनस के बैक्टीरिया की मौजूदगी बनी रही। यानी इस लापरवाही की जवाबदेही बॉम्बे लैबोरेटरी पर डाली गई।

जाँच समिति की एक आपत्ति वेक्सीन बनाने के तरीके को लेकर भी थी। जाँच समिति का कहना था कि हाफकिन वेक्सीन बनाने के लिए जो नया तरीका अपना रहे थे, उसमें आसुत जल व अगर (Agar) को ऊष्मा द्वारा स्टरलाइज़ कर रहे थे। इसकी वजह से स्टरलाइज़ेशन में कार्बोलिक अम्ल मिलाने की ज़रूरत नहीं थी (सामान्यतः वेक्सीन में कार्बोलिक अम्ल की सान्द्रता 0.5 प्रतिशत होती थी)। हाफकिन की इस विधि को प्लेग कमीशन द्वारा मान्यता नहीं मिली थी। प्लेग कमीशन द्वारा सन् 1899 में वेक्सीन बनाने की जिस विधि को देखा-समझा था, उस विधि को अब हाफकिन ने छोड़ दिया है।

बॉम्बे लैबोरेटरी पर जो आरोप निश्चित किए गए थे उसके जवाब में हाफकिन ने बताया कि लैब द्वारा पूरी तरह स्टरलाइज़ेशन के बाद ही टीके भेजे गए थे। वे जिस विधि से वेक्सीन बना रहे हैं, उस विधि से पेरिस की पास्चर लैब भी टीके बना रही है। लेकिन आखिरकार हाफकिन को एक साल के अवकाश पर भेज दिया गया।

इस घटना की वजह से उनके यश, उनकी कीर्ति पर एक दागनुमा कलंक लग गया था।

हताशा, निराशा का दौर

हाफकिन इस एक साल के दौरान यूरोप की अलग-अलग लैब में जाकर वेक्सीन पर रिसर्च करने वाले साथियों से मिले। उन्हें मलकोवाल की घटना बिना लाग-लपेट ब्यौरेवार बताई। टीके की सामग्री को तैयार करने, टीकों को प्रयोगशाला से पंजाब डिस्पेच करने, साथ में इंस्ट्रक्शन मैनुअल देने के बारे में भी विस्तार से बताया। इस सबका उद्देश्य सिर्फ इतना ही था कि रिसर्चर साथी बता सकेंगे कि हाफकिन ने किस पड़ाव पर गलती की है या सावधानी बरतने में कहाँ भूलचूक हुई है। ऐसे ही निराशा, विपरीत हालात में हाफकिन ने तीन साल गुज़ार दिए।

अँग्रेज़ सरकार ने मलकोवाल विपदा की जाँच समिति से जाँच करवाने के साथ-साथ लीस्टर इंस्टीट्यूट ऑफ प्रिवेंटिव मेडिसिन, लंदन से भी मलकोवाल घटना व प्लेग टीके को लेकर परामर्श किया। इंस्टीट्यूट के विचार से टीके की बोतल को मलकोवाल में खोलने पर इसमें टिटेनस संक्रमण की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। हाफकिन जिस नई विधि से टीके बना रहे थे, इंस्टीट्यूट ने उसे भी उचित पाया। यानी जाँच कमीशन और इंस्टीट्यूट की राय में विरोधाभास दिखाई दे रहा था।

आप भी सोच रहे होंगे कि मलकोवाल घटना के बाद पंजाब में प्लेग टीकाकरण कार्यक्रम का क्या हुआ। टीकाकरण का काम तो सन् 1902 के बाद भी जारी रहा। बस, हाफकिन के नए तरीके से वेक्सीन बनाना रोक दिया गया। पुराने तरीके से वेक्सीन बनाई जा रही थी जिसमें कार्बोलिक अम्ल की भी निश्चित मात्रा होती थी।

मलकोवाल विपदा की रिपोर्ट

अँग्रेज़ी हुकूमत ने सन् 1906 में मलकोवाल विपदा सम्बन्धी फायनल रिपोर्ट गज़ेटियर ऑफ इंडिया में प्रकाशित की। इस रिपोर्ट में कहा गया, ऐसा प्रतीत होता है कि जाँच समिति ने अपनी जाँच के दौरान कुछ महत्वपूर्ण बातों पर गौर नहीं किया था। जैसे डॉ. इलियट ने जाँच समिति को बताया था कि वेक्सीन की बोतल को खोलने पर उसमें तीव्र बदबू नहीं थी। वेक्सीन की सभी बोतलें 26 दिन पहले बम्बई से डिस्पेच हुई थीं। यदि बोतल नम्बर 53 N पहले से संक्रमित होती तो उसमें बुरी बदबू होनी चाहिए थी। इलियट ने अपने बयान में आगे बताया था कि उनके सहायक नरिन्दर सिंह जब बोतल 53 N खोल रहे थे तब उनके हाथ से चिमटी ज़मीन पर गिर गई और बोतल का कॉर्क बोतल के भीतर चला गया था।

हाफ़किन के सम्मान में जारी किया गया डाक टिकट।

नरिन्दर सिंह ने चिमटी को कार्बोलिक घोल से धोकर उसे बोतल के भीतर डालकर कॉर्क को बाहर निकाला था। बॉम्बे लैबोरेटरी ने टीके की बोतल के साथ ज़रूरी सावधानियाँ भी बताई थीं (एक इंस्ट्रक्शन मैनुअल दिया गया था)। उसके मुताबिक चिमटी, स्टॉपर आदि के स्टरलाइज़ेशन के लिए स्प्रिट लैंप की लौ का उपयोग किया जाना था। कार्बोलिक घोल के उपयोग की मनाही थी। वास्तव में, नरिन्दर सिंह पंजाब प्लेग मैनुअल 1902 का पालन कर रहे थे जिसमें स्टरलाइज़ेशन के लिए कार्बोलिक घोल का उपयोग करने की इजाज़त थी जबकि उन्हें बॉम्बे लैबोरेटरी के मैनुअल का पालन करना चाहिए था।

फायनल रिपोर्ट ने लीस्टर इंस्टीट्यूट के परामर्श के आधार पर कहा कि मलकोवाल में बोतल 53 N में थोड़ी मात्रा में टिटेनस का संक्रमण हुआ होगा लेकिन टिटेनस को बोतल में अपनी संख्या बढ़ाने के लिए काफी समय मिला होगा। जिन लोगों का टीकाकरण बोतल 53 N से किया गया, उनके शरीर में टिटेनस के बैक्टीरिया प्रवेश कर गए। टीकाकरण में जिस सीरिंज का उपयोग किया गया, उसे कार्बोलिक घोल से धोने के बाद उसमें टिटनेस की मात्रा बेहद कम थी। इसलिए इसी सीरिंज से बोतल 53 N के बाद अन्य बोतल से जिन लोगों का टीकाकरण किया गया, उनके शरीर में टिटेनस का असर नहीं देखा गया।

दोस्तों का साथ और भारत वापसी

इस रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद हाफकिन की निर्दोषता साबित हुई लेकिन पहले की तरह उन पर भरोसा करके उन्हें महत्वपूर्ण काम सौंपे जाएँ, यह भी ज़रूरी था। किन्तु ऐसा होता हुआ दिख नहीं रहा था।

रोनॉल्ड रॉस (जिन्होंने भारत में मलेरिया सम्बन्धी शोध किया था) ने सन् 1907 में *नेचर* पत्रिका में एक खत के माध्यम से मलकोवाल विपदा के बारे में बताया। रॉस ने इस बात

की ओर भी संकेत किया कि यह एक आम धारणा है कि वेक्सीन में विषाक्तता बॉम्बे लैब की लापरवाही की वजह से आई। कोई भी इसमें स्थानीय भूलचूक देखना-सुनना नहीं चाहता। और तो और, एक ऐसे दौर में जब भारत में हज़ारों लोग प्लेग से मरते हैं, यहाँ वेक्सीन को सिरे से खारिज करने तक मामला पहुँच गया है। इसी तरह दुनिया के जाने-माने दस जीवाणु-विज्ञानियों ने हस्ताक्षरित खत के माध्यम से हाफकिन को अपना समर्थन दिया। यह खत *द टाइम्स* में प्रकाशित हुआ। रोनॉल्ड रॉस ने अपने स्तर पर प्रयास कर भारत के प्रमुख अधिकारियों को कहा कि वे हाफकिन को भारत में दोबारा काम करने का मौका दें। जल्द ही, सेक्रेटरी ऑफ इंडिया स्टेट ने हाफकिन को खत लिखकर भारत में काम करने का सम्मानजनक प्रस्ताव दिया।

सन् 1908 में हाफकिन को कलकत्ता की बायोलॉजिकल रिसर्च लैब का प्रधान डायरेक्टर नियुक्त किया गया। इस लैब में टीका सामग्री का उत्पादन नहीं होता था। हाफकिन के काम को सिर्फ रिसर्च तक सीमित किया गया था। लगता है मलकोवाल की दुर्घटना यहाँ भी पीछा कर रही थी। सन् 1915 में हाफकिन सेवानिवृत होकर यूरोप लौट गए। 1925 में बम्बई के परेल की रिसर्च लैब को हाफकिन इंस्टीट्यूट नाम दिया गया। 26 अक्टूबर 1930 को हाफकिन का निधन हुआ। उस दिन हाफकिन के सम्मान में बम्बई का ग्रांट मेडिकल कॉलेज व हाफकिन इंस्टीट्यूट बन्द रखा गया। 1964 में आज़ाद भारत की सरकार ने हाफकिन की स्मृति में एक डाक टिकिट भी जारी किया।

माधव केलकर: *संदर्भ* पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

सन्दर्भ:

1. किशोर पत्रिका, जुलाई 1981 अंक। लेख - चूक एकाची, पण प्रायश्चित्त भलत्यालाच - लेखक श्री न.वा. कोगेकर।

2. Waldemar Mordecai Haffkine, CIE (1860–1930): prophylactic vaccination against cholera and bubonic plague in British India. By Barbara J Hawgood का लेख।

QED: सत्य की तलाश

शेषागिरी केएम राव

"हम ज्ञान कहाँ से प्राप्त करते हैं? अवलोकन से। लेकिन अवलोकन तो हम एक-एक प्रकरण का ही कर सकते हैं।...उन उदाहरणों से जिन्हें हमने देखा है। हमें लगता है कि उन उदाहरणों में हमें जो कुछ सत्य प्रतीत हुआ था वह अतीत, वर्तमान और भविष्य के उसी तरह के अन्य मामलों में भी सही होगा चाहे उनकी संख्या कितनी भी हो।"
- जॉन स्टुअर्ट मिल

एक दिन चन्ना ने एकदम सपाट भाव से पूछा, "तुम्हें कैसे पता कि किसी त्रिभुज के तीन कोणों का योग 180 डिग्री होता है? तुम्हें कैसे पता कि यह सत्य है?" यह पहले सत्र के बाद कक्षा-8 की बात है। सवाल सरल लगता था और जवाब ज़ाहिर था। लेकिन जब उन्होंने यह सवाल पूछा तो मुझे एक शरारती मंशा का भान हुआ। मुझे क्या पता था कि वे हमें एक सफर पर ले जाने वाले हैं जो 2000 से भी ज़्यादा वर्ष पुराना है और युक्लिड नाम के एक इन्सान के साथ शुरू हुआ था।

'प्रमाण' शब्द से हमारा पहला सम्पर्क 'प्रमेय' शब्द के साथ तब हुआ था जब 1982 के मध्य में हम ज्यामिति सीख रहे थे। तब तक हमने ज्यामिति की कुछ प्रारम्भिक बातें सीखी थीं - विभिन्न किस्म के त्रिभुज कैसे बनाएँ, अज्ञात कोण का पता कैसे लगाएँ, कोणों और रेखाओं को द्विभाजित कैसे करें वगैरह।

चलते-चलते हम यह मानकर चलने लगे थे कि त्रिभुजों का सबसे सामान्य गुण यह होता है कि किसी भी त्रिभुज के तीन कोणों का योग सदा 180 डिग्री होता है। यह तो ब्रह्म वाक्य (अटल सत्य) था।

मैं हमेशा सोचा करता था कि हम 180 डिग्री की इस संख्या पर कैसे पहुँचे। मसलन, 246 डिग्री क्यों नहीं? खैर, तब मैंने यह सवाल नहीं पूछा था और मुझे यह समझने में बरसों लग गए कि हमने सम्पूर्ण कोण के लिए 360 डिग्री, ऋजु कोण (स्ट्रेट एंगल) के लिए 180 डिग्री वगैरह क्यों चुने। अब मेरा मानना है कि पूरा मामला सुविधा का है क्योंकि 360 एक ऐसी संख्या है जिसके गुणनखण्डों

की संख्या काफी अधिक है जिसके चलते गणनाएँ आसान हो जाती हैं।

"तुम्हें कैसे पता कि यह सत्य है?" चन्ना अड़े रहे।

हममें से कुछ ने अविलम्ब जवाब दिया, "नापकर देख लीजिए, आपको 180 डिग्री ही मिलेगा।" मुझे याद है कि सवाल सुनकर मैं चौंक गया था। उस समय यह इतना प्रत्यक्ष-सा लगता था। और हमारे कंपास बॉक्स में चाँदे वैसे भी 180 डिग्री दर्शाने के लिए बनाए गए थे। तो कुछ और कैसे हो सकता है? लिहाज़ा, मेरे दिमाग में मामला बन्द था।

"मैं कितने त्रिभुज बनाकर नापूँ?" चन्ना ने जारी रखा।

निगमन यानी डिडक्शन क्यों ज़रूरी?

इस सवाल ने हमें थोड़ा हैरान किया और मुझे याद है हम किसी एक संख्या पर सहमत नहीं हो पाए थे। दरअसल, कोई भी संख्या मनमानी ही होती - 10, 50, 100, 1000...। थोड़ी देर तक कक्षा में सन्नाटा रहा। चन्ना की बात में दम तो था और हम यह कहकर बच नहीं सकते थे कि हम बहुत सारे त्रिभुजों के आँकड़े ले लेंगे। लेकिन मैं सोचता रहा: यदि पहले 1000 त्रिभुजों के कोणों का योग 180 डिग्री हुआ, तो क्या 1001वाँ त्रिभुज अलग हो सकता है?

और, वास्तव में उनका अगला सवाल यही था, "यदि 1001वें त्रिभुज के कोणों का योग 180 डिग्री न हुआ तो?" कक्षा से कोई जवाब नहीं आया। वे कोशिश क्या कर रहे हैं?

चन्ना की बात को थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए, एक और उदाहरण मुनासिब होगा। इसे 'मॉन्स्ट्रस काउंटर एक्ज़ाम्पल' (विकराल विपरीत उदाहरण) कहते हैं और इससे मेरा परिचय हाल ही में हुआ था। यह उदाहरण दर्शाता है कि गणित नाम की यह चीज़ काफी बेरहम हो सकती है। इस वक्तव्य पर गौर कीजिए: "व्यंजक $\{1+1141n^2\}$, जहाँ n एक प्राकृत संख्या है, का उत्तर कभी भी एक वर्ग संख्या नहीं होगा।" वर्ग संख्या 25 जैसी कोई संख्या होती है जिसे 5x5 के रूप में लिखा जा सकता है, जहाँ 5 को 25 का 'वर्गमूल' कहते हैं। 'वर्ग' शब्द का उपयोग इसलिए भी किया जाता है क्योंकि 25 को 5 इकाई गुणा 5 इकाई के एक वर्ग के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। आप ऐसी कई वर्गाकार संख्याएँ जानते होंगे जिन्हें वर्ग कहते हैं।

जब इस व्यंजक की जाँच के लिए कंप्यूटरों का उपयोग किया गया तो पता चला कि 1 से लेकर 30, 693, 385, 322, 765, 657, 197, 397, 207 तक की किसी भी प्राकृत संख्या के लिए इस व्यंजक से वर्ग संख्या नहीं निकली। यह कोई छोटी-मोटी संख्या नहीं है। इतनी संख्याओं से परखने के

बाद कोई भी यह निष्कर्ष निकाल लेता कि उक्त व्यंजक $\{1+1141n^2\}$ का उत्तर कभी भी एक वर्गाकार संख्या नहीं होगा। लेकिन - और यह सरासर पागलपन है - व्यंजक ने अगली संख्या के लिए वर्गाकार संख्या उत्पन्न कर दी। तो क्या आप इसके वर्गमूल का हिसाब लगा सकते हैं? विश्वास करना मुश्किल है, नहीं? वाकई हैरतअंगेज़ है। संख्याओं की दुनिया आपको ऐसे ही चौंका सकती है।

मुझे याद है, चन्ना ने कहा था, "इसी वजह से हमें सिद्ध करना होता है कि चाहे जो भी हो जाए, त्रिभुज के तीन कोणों का योग 180 डिग्री ही होगा।" तो हमने इस प्रारम्भिक प्रमेय को सिद्ध किया और साथ में यह सीखा कि प्रमेय और कुछ नहीं, किसी बात का दावा होता है जिसका एक प्रमाण होता है जो तथाकथित 'निगमन तर्क' का उपयोग करके तैयार किया गया है।

गणित में यह ऐसा कुछ कहने जैसा होता है कि "यदि A=B है और B=C है तो A=C होगा।" आम बोलचाल में यह कुछ ऐसा होगा: "सारे सेब फल होते हैं, सारे फल पेड़ों पर उगते हैं, इसलिए सारे सेब पेड़ पर उगते हैं।" ज़्यादा पेचीदा मामलों में प्रमाण के हरेक चरण को तार्किक ढंग से अगले चरण तक पहुँचते जाना चाहिए, जब तक कि आप निष्कर्ष तक न पहुँच जाएँ। आप निगमन तर्क के अपने उदाहरण बना सकते हैं। हम ऐसा रोज़ाना करते हैं हालाँकि इसे हर बार पहचानते नहीं। बात सीधी-सी है, नहीं? परन्तु ज़रूरी नहीं कि हर बार ऐसा ही हो। कुछ प्रमेयों के लिए प्रमाण सैकड़ों पन्नों में फैला हो सकता है। जैसे मशहूर 'फर्मा के अन्तिम प्रमेय' का प्रमाण 150 पृष्ठ लम्बा है। इसे 'बीसवीं सदी का सरताज प्रमाण' कहा गया था। इस पर बाद में बात करते हैं।

मेरे लिए तो यह गणित करने का एक नया तरीका था। हम तो तब तक विभिन्न किस्म की गणनाएँ करने के आदी थे। यह एक नए किस्म का प्राणी था जिसे समझने की ज़रूरत

यूक्लिड (लगभग 400-300 ईसा पूर्व) आज भी छात्रों के लिए सिरदर्द का कारण हैं। यह स्केच चित्रमय है क्योंकि हमें पता नहीं है कि यूक्लिड कैसे दिखते थे।

थी। आसान नहीं था। लेकिन हम गणित में *सत्य* और *असत्य* में भेद करने की राह में एक महत्वपूर्ण कदम उठा रहे थे।

बुनियाद में स्वयंसिद्ध मान्यताएँ

और बात इतनी ही नहीं थी। चन्ना अपने दाहिने हाथ को लगातार एक चाप की आकृति में लहरा रहे थे। वे ऐसा तब करते थे जब उन्हें कोई गम्भीर बात कहनी होती थी। उन्होंने कहा, "स्कूल में हमारा सामना जिन तमाम ज्यामितीय प्रमेयों से होता है, जिन्हें लेकर हम इतनी मगजमारी करते हैं, वे सब-के-सब कुछ मूलभूत कथनों पर टिके हैं जिन्हें एक्सियम्स या पॉस्टुलेट्स (स्वयंसिद्ध मान्यता) कहते हैं।" सरल शब्दों में एक्सियम्स वे मूलभूत मान्यताएँ हैं जो स्वयंसिद्ध लगती हैं।

"जो ज्यामिति हम इस समय सीख रहे हैं," चन्ना ने बताया, "वह कुछ मान्यताओं पर टिकी है जिन्हें युक्लिड नाम के एक व्यक्ति ने 2000 वर्ष पूर्व यूनान में एलेक्ज़ेंड्रिया में स्थापित किया था।" तो, इसे युक्लिडियन ज्यामिति कहते हैं और इसे पुस्तकों की एक शृंखला में लिखा गया था। इन पुस्तकों का नाम एलीमेंट्स है। देखा जाए, तो लगभग 2000 वर्षों तक मात्र युक्लिडियन ज्यामिति ही एकमात्र ज्यामिति थी।

युक्लिड को लेकर कई सारे विवाद हैं। कुछ इतिहासकारों को तो सन्देह है कि युक्लिड नाम के किसी व्यक्ति का वजूद भी था। अन्य यूनानी गणितज्ञ प्रायः युक्लिड के नाम का उपयोग भी नहीं करते और मात्र 'एलीमेंट्स के रचयिता' की बात करते हैं।

चन्ना ने हमें बताया, "जो ज्यामिति हम सीख रहे हैं, वह मान्यताओं या एक्सियम्स के बगैर ढह जाएगी। उसका कोई अर्थ नहीं होगा और मात्र अफरा-तफरी बचेगी। ये मान्यताएँ शुरुआती बिन्दु (प्रस्थान बिन्दु) हैं जिनके बिना हम किसी कथन को सिद्ध करने की दिशा में नहीं बढ़ पाएँगे।" बातें पहेलियाँ बनती जा रही थीं!

मैं चुपचाप बैठकर सुनता रहा और यह समझने की कोशिश करता रहा कि वे कह क्या रहे हैं। हमने गणित में ऐसी कहानियाँ पहले कभी नहीं सुनी थीं।

दरअसल, आठवीं कक्षा में पहुँचने से पहले हमने कोई कहानी ही नहीं सुनी थी। हम तो बस सवाल 'छुड़ाने' के आदी थे। हमारा गणितीय जीवन सरल किन्तु उबाऊ रहा था।

आप शायद सोच रहे होंगे कि माजरा क्या है, तो मैं युक्लिड के पाँच एक्सियम (स्वयंसिद्ध अभिधारणाएँ) पेश कर देता हूँ। फिर हम देखेंगे कि कैसे इनके बगैर हम मुश्किल में फँस जाएँगे। भले मानुस युक्लिड ने एलीमेंट्स में कहा था, "निम्नलिखित को मानकर चलते हैं":

1. किन्हीं दो बिन्दुओं को जोड़कर एक सरल रेखाखण्ड खींचा जा सकता है।

2. किसी भी सरल रेखाखण्ड को अनन्त तक एक सरल रेखा के रूप में बढ़ाया जा सकता है।

3. किसी भी सरल रेखाखण्ड को त्रिज्या मानकर और उसके एक अन्तिम बिन्दु को केन्द्र मानकर एक वृत्त बनाया जा सकता है।

4. सारे समकोण एक-दूसरे के बराबर होते हैं।

5. यदि एक सरल रेखा दो सरल रेखाओं पर गिरकर अपने एक ही ओर दो अन्त:कोण इस प्रकार बनाए कि इन दो कोणों का योग मिलकर दो समकोणों से कम हो तो वे दो सरल रेखाएँ अनिश्चित रूप से आगे बढ़ाए जाने पर उसी ओर मिलती हैं जिस ओर यह योग दो समकोणों से कम होता है। (इसे 'समानान्तर अभिधारणा' कहते हैं और यह मशहूर होने के अलावा विवादास्पद भी है।)

मुझे याद है कि मैं हैरान रह गया था - ऐसी ज़ाहिर-सी बात को कहने की क्या ज़रूरत है? और जैसे मेरे मन की बात ताड़कर ही चन्ना ने कहा था कि ये मान्यताएँ, देखा जाए तो, मान्यताएँ ही हैं। इन पर सवाल नहीं उठाए जा सकते। इन्हें तो इसी रूप में स्वीकार करना होगा। किन्तु ये रोज़मर्रा के अनुभवों और हमारे जीवन के यथार्थ में से उपजती हैं। और जैसा कि हम अभी देखेंगे, ये हमें बहुमूल्य शुरुआती बिन्दु प्रदान करती हैं। युक्लिड मुझे पकाने लगे थे। हम जा कहाँ रहे हैं?

चन्ना ने एक और उदाहरण दिया। उन्होंने कहा कि यह कुछ हद तक शतरंज के खेल जैसा है। रानी आगे-पीछे, आड़े या तिरछे चल सकती है जबकि हाथी सिर्फ आड़ा या खड़ा चल सकता है। हम इस पर सवाल नहीं उठाते। यह एक मान्यता या नियम है जो उस खेल की बुनियाद है। यदि आप इसे बदलते हैं, तो खेल बदल जाता है और आपको शायद एक अलग ही किस्म का शतरंज मिल जाए। तो, नियम स्वयंसिद्ध हैं और हम उन पर सवाल नहीं उठाते। स्वयंसिद्ध मान्यताएँ या अभिधारणाएँ भी ऐसी ही हैं।

प्रमेय सिद्ध करने का एक उदाहरण

युक्लिड की स्वयंसिद्ध मान्यताओं की उपयोगिता को सराहने के लिए सबसे बढ़िया उदाहरण वह प्रमेय है जो कहती है कि किसी भी त्रिभुज (जैसे चित्र-1[i] में त्रिभुज ABC, जिसे प्राय: ΔABC लिखते हैं) के तीन कोणों का योग 180 डिग्री होता है। आम तौर पर यह पहली प्रमेय होती है जिसे सिद्ध करने का मौका हमें स्कूल में मिलता है।

इस प्रमेय को सिद्ध करने के एक सामान्य तरीके में चित्र-1 में दर्शाए

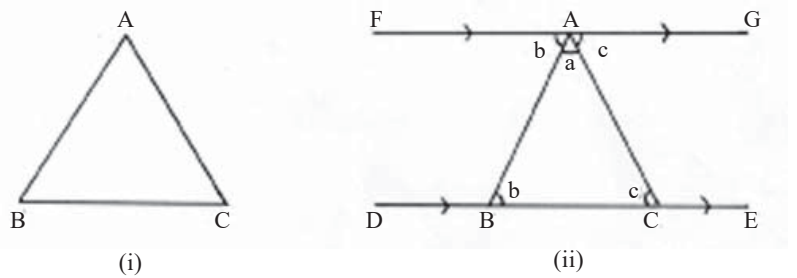

चित्र-1: त्रिभुज योग प्रमेय (The Triangle Sum Theorem)

ढंग से ΔABC को लेकर कुछ रचना करनी पड़ती है। यह आम तरीका है। हमें ये रचनाएँ बनाने की छूट होती है, बशर्ते कि हम मूल आकृति (वर्तमान सन्दर्भ में ΔABC) को न बदलें। हमने यहाँ जो किया है, जैसा कि चन्ना ने 1982 में किया था, वह इस प्रकार है:

1. बिन्दु A से हमने त्रिभुज के दूसरी ओर वाली भुजा (BC) के समानान्तर एक रेखा खींची। इस समानान्तर रेखा पर हमने दो बिन्दु F और G चिन्हित कर दिए। युक्लिड की समानान्तर मान्यता याद है? हम यहाँ उसका उपयोग करेंगे।

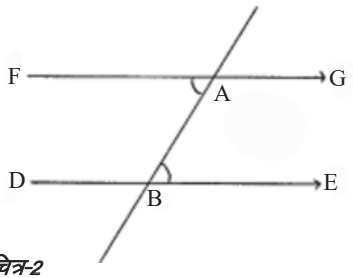

चित्र-2

2. हमने भुजा BC को दोनों दिशाओं में आगे बढ़ा दिया और इस विस्तारित रेखा पर दो बिन्दु D और E चिन्हित कर दिए। चित्र-1 से स्पष्ट है कि रेखाएँ FG और DE परस्पर समानान्तर हैं अर्थात् दोनों सिरों से अनिश्चित रूप से बढ़ाए जाने पर वे कभी नहीं मिलेंगी।

यहाँ तक पहुँचने से पहले हम यह सीख चुके थे कि जब दो समानान्तर रेखाओं को कोई तीसरी रेखा काटती है (जिसे तिर्यक रेखा कहते हैं) तो एकान्तर कोण बराबर होते हैं। इस बात को चित्र-2 में दर्शाया गया है। दो समानान्तर रेखाएँ FG और DE हैं तथा AB तिर्यक रेखा है जो इन दो रेखाओं को काटती है।

दो समानान्तर रेखाओं को काटने वाली कितनी भी तिर्यक रेखाएँ हो सकती हैं। कोण FAB और ABE एकान्तर कोण हैं जो बराबर हैं।

अब हम चित्र-1 पर लौट सकते हैं और देख सकते हैं कि वे कौन-से

एकान्तर कोण हैं जो बराबर हैं। इस चित्र में समानान्तर रेखाएँ FG और DE दो तिर्यक रेखाओं AB और AC को काटती हैं। इसका मतलब हुआ कि:

कोण GAC = कोण ACB (चूँकि ये एकान्तर कोण हैं)

इसी प्रकार से कोण FAB = कोण ABC (चूँकि ये भी एकान्तर कोण हैं)

अब, कोण BAC, सरल रेखा FG पर तीसरा कोण है। आपको अपने स्कूल के दिनों से याद होगा कि किसी सरल रेखा पर (एक बिन्दु पर बने) सारे कोणों का योग 180 डिग्री होता है। इसे ऋजु कोण कहते हैं और यह 360 डिग्री के सम्पूर्ण कोण का आधा होता है। अर्थात, कोण GAC + कोण BAC + कोण FAB = 180 डिग्री।

लेकिन कोण GAC = कोण ACB (जो त्रिभुज के तीन में से एक कोण है) और कोण FAB = कोण ABC (यह भी त्रिभुज के तीन कोणों में से एक है), जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं। तीसरा कोण BAC ('a' के रूप में चिन्हित) ऋजु कोण और ΔABC में उभयनिष्ठ (कॉमन) है। अत: हम कह सकते हैं कि त्रिभुज ABC के तीन कोणों का योग 180 डिग्री है।

अपना तर्क पूरा करने के बाद चन्ना ने फौरन जोड़ा, "QED!" और इन्तज़ार करने लगे कि हम इसे पचा लें।

प्रमाण बेढंगे हो सकते हैं, सुरुचिपूर्ण हो सकते हैं, सुन्दर हो सकते हैं, चौंकाने वाले हो सकते हैं...। गणितज्ञ तार्किक प्रक्रिया के बारे में अपने एहसासों को ऐसे ही विशेषणों से व्यक्त करते हैं। मैं कोई गणितज्ञ नहीं हूँ लेकिन मुझे भी लगता है कि यह अत्यन्त प्रारम्भिक प्रमाण सुरुचिपूर्ण है। यह थोड़ा हतोत्साहित भी कर सकता है क्योंकि इस तरह के तर्क के अभ्यस्त होने में समय लगता है। लेकिन यह गणित का मर्म है, बात चाहे ज्यामिति की हो, बीजगणित की हो या किसी अन्य शाखा की।

प्रमेय साबित करने में स्वयंसिद्ध की भूमिका

आप शायद पूछेंगे, "यह तो ठीक है, पर इसमें हो क्या रहा है?" हमने जिन भव्य स्वयंसिद्धों या अभिधारणाओं से शुरुआत की थी, उनसे इसका क्या लेना-देना है? तो चलिए उन पर लौटते हैं। हम वाकई देख सकते हैं कि उन स्वयंसिद्धों का उपयोग इस प्रमाण में कैसे किया गया है। दरअसल, समानान्तर अभिधारणा के बगैर हम सिद्ध नहीं कर सकते कि त्रिभुज के कोणों का योग 180 डिग्री होता है। जी, बिलकुल नहीं।

चलिए, मैं विरोधी वकील बनकर चन्ना के साथ काल्पनिक बातचीत करता हूँ। मैं चन्ना के पास जाकर कहता हूँ, "जनाब, मुझे ये

अभिधारणाएँ/स्वयंसिद्ध मान्यताएँ पसन्द नहीं हैं, ये इतनी भ्रामक हैं।"

आदत के मुताबिक, वे मुस्करा दिए। लेकिन उनके चेहरे पर एक सवालिया भाव है। "क्या बात है, रा?" 'रा' किसी लड़के को स्नेहपूर्वक सम्बोधित करने के लिए एक तेलुगु शब्द है। चन्ना इसका उपयोग कई बार किया करते थे।

मैं अपनी बात आगे बढ़ाता हूँ, "बात को आगे बढ़ाने के लिए मान लीजिए, हम कुछ अभिधारणाओं को तिलांजलि दे देते हैं। तब भी क्या 'त्रिभुज प्रमेय' का पुख्ता प्रमाण हासिल करना सम्भव होगा, जैसा कि हमने अभी किया है? मुझे (अभिधारणाओं की अनिवार्यता की) इस बात को स्वयंसिद्ध और सवालों से परे मानने में दिक्कत है।"

मुझे याद है, स्वयंसिद्ध मान्यताओं का यह गोरखधन्धा मुझे परेशान करने लगा था।

चन्ना तुरन्त देख लेते हैं कि मैं किस उधेड़बुन में हूँ। वे जानते हैं इससे कैसे निपटना है। "ठीक है," वे कहते हैं, "हम अभिधारणा क्रमांक 1 व 2 को हटा देते हैं क्योंकि तुम्हें ये वैसे भी पसन्द नहीं हैं। तब क्या होगा?"

"यदि तुम अभिधारणा 1 को हटा दोगे तो तुम किसी बिन्दु को किसी अन्य बिन्दु से एक सरल रेखा की मदद से नहीं जोड़ पाओगे। अभिधारणा 1 हमें यह बुनियाद उपलब्ध कराती है। इसी प्रकार से यदि तुम अभिधारणा 2 को हटा दोगे तो तुम त्रिभुज ABC की भुजा BC को आगे नहीं बढ़ा पाओगे, जैसा कि हमने किया था। समझे?"

फिर मैं सोचता हूँ कि यदि हम अभिधारणा 5 (समानान्तर मान्यता) को हटा देते हैं तो हम दो समानान्तर रेखाओं को एक तिर्यक रेखा द्वारा काटे जाने पर एकान्तर कोणों के बराबर होने की बात का उपयोग भी नहीं कर पाएँगे। यानी, इस बात का पुख्ता प्रमाण हासिल करना असम्भव हो जाएगा कि त्रिभुज के तीन कोणों का योग 180 डिग्री होता है।

तो बात साफ है। हम इन अभिधारणाओं यानी स्वयंसिद्ध मान्यताओं के बगैर नहीं रह सकते। मैं सोचता हूँ, विचारों की कोई भी तार्किक व्यवस्था विकसित करने के लिए हमें कुछ मान्यताओं की ज़रूरत होती ही है। स्कूल में हमने युक्लिड की जो ज्यामिति पढ़ी थी, वह ऐसी ही एक व्यवस्था है।

यूक्लिड की भूमिका और महत्व

थोड़े और पेचीदा स्तर पर, युक्लिड की अवधारणाएँ हमें उस जगह (space) के बारे में कुछ बता सकती हैं जिसमें हम रहते हैं। जब मैं जगह कहता हूँ, तो मेरा आशय हमारे जीवन के भौतिक यथार्थ से है। हम

इसे मानकर चलते हैं और इसके बारे में ज़्यादा सवाल-जवाब नहीं करते - जैसे, इसकी संरचना। मुझे चन्ना के साथ हुई यह चर्चा स्पष्ट रूप से याद है। कुछ बहस भी हुई थी। जैसे, यदि हम रेखा को दोनों दिशाओं में आगे बढ़ाने सम्बन्धी द्वितीय अभिधारणा को लें, तो हम इस विचार पर पहुँचते हैं कि जगह 'असीम' है। कौन जानता है कि ऐसा ही है? इस बात को लेकर अन्तहीन बहस हो सकती है कि क्या कोई रेखा लगातार बढ़ती ही जा सकती है। फिर, अभिधारणा 5 को लेकर विवाद है। उसकी बात मैं जल्दी ही करूँगा।

हमने यहाँ जो उदाहरण लिया, वह ज्यामिति का है। और इसने मुझे यह स्वीकार करने को विवश कर दिया कि त्रिभुज प्रमेय या गणित में किसी भी अन्य प्रमेय को सिद्ध करना शुरू करने से पहले अभिधारणा महत्वपूर्ण ही नहीं बल्कि अनिवार्य हैं। युक्लिड की बुद्धिमत्ता शायद स्पष्ट निरूपण में है। गणित के इतिहासकार प्राय: बताते हैं कि युक्लिड के निष्कर्ष विभिन्न संस्कृतियों में पूर्ववर्ती गणितज्ञों द्वारा प्रस्तुत किए गए थे क्योंकि ज्यामिति का विकास तो विभिन्न समाजों में मापन की ज़रूरत के चलते हुआ था। लेकिन वे कहते हैं कि युक्लिड वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने तार्किक निगमन के लिए एक समग्र प्रणाली अथवा नियमों का विकास किया था। ये नियम ठोस उदाहरणों से अमूर्त अवधारणाओं की ओर संक्रमण (ट्रांज़िशन) के द्योतक हैं। यह वह तरीका है जिस पर आजकल की हाई स्कूल गणित शिक्षा टिकी है।

मैं यह दोहरा रहा हूँ क्योंकि चन्ना ने यह दिलचस्प इतिहास हमारे साथ साझा किया था। कल्पना कीजिए - हम ऐसा कुछ सीख रहे थे जिसे दो सहस्त्राब्दि पहले सोचा गया था और एक किताब में लिख दिया गया था। हम सोच भी नहीं सकते थे कि गणित ऐसा भी हो सकता है। आने वाले महीनों और वर्षों में हम ज्यामिति, बीजगणित, त्रिकोणमिति और बीजगणितीय ज्यामिति में कई प्रमेयों को सिद्ध करने वाले थे। यह सब हाई स्कूल के हर गणित छात्र की नियमित खुराक का हिस्सा है।

इसमें से कुछ भी हमारी पाठ्य पुस्तक का हिस्सा नहीं था। चन्ना के लिए इसे छूना ज़रूरी नहीं था। लेकिन उन्होंने किया, यह मानकर कि हम सब यह कहानी सुनने के हकदार हैं। इसीलिए तो उन्होंने हमें यह सुनाने की ज़हमत उठाई। किसी भी अभिभावक या शिक्षक के लिए यह विश्वास ज़रूरी है - कि बच्चे के लिए विषय की गहरी समझ विकसित करना ज़रूरी है और वह कर सकता है। बदकिस्मती से, हम प्राय: बच्चों को कम करके आँकते हैं और उनकी सम्भावनाओं को नुकसान पहुँचाते हैं।

हम उन्हें खारिज कर देते हैं और फिर जूझते हैं कि वे टेस्ट और परीक्षाओं से पार पा लें। हममें से कुछ तो अपने पूर्वाग्रहों को और भी आगे ले जाते हैं। हम मान लेते हैं कि कतिपय समुदायों से आने वाले कुछ बच्चे सीख ही नहीं सकते। कुछ शिक्षक यह भी मानते हैं कि लड़कियों की अपेक्षा लड़के बेहतर सीखते हैं। तब हम सारे बच्चों के साथ बराबरी का व्यवहार कैसे कर सकते हैं?

मुझे प्रमेय और उनके पेचीदा प्रमाणों का अध्ययन अच्छा लगता था, लेकिन कभी-कभार ही। मैं कामना करता रहता था कि इसकी बजाय चन्ना हमें ज़्यादा-से-ज़्यादा कहानियाँ सुनाएँ। कोई दिन ऐसा होता था कि किसी प्रमेय का प्रमाण आसानी-से मिल जाता था। खास तौर से मुझे याद है कि जब हम त्रिभुज के मध्य बिन्दु प्रमेय (Triangle Midpoint Theorem) पर चर्चा कर रहे थे, तब अचानक मुझे एक विचार कौंधा था। जब मैंने अपने प्रमाण के तर्क आत्मविश्वास से प्रस्तुत किए, तब चन्ना के चेहरे पर थोड़ा आश्चर्य का भाव था। वह पहली बार था कि मैंने तर्क की प्रक्रिया शुरू की थी। मैंने सशक्त महसूस किया।

किन्तु ऐसे दिन भी होते थे जब मुझे जूझना पड़ता था। अलबत्ता, चन्ना हमेशा की तरह जोश में आगे बढ़ते, ब्लैकबोर्ड को अन्तहीन प्रमेयों और दिमाग को चकरा देने वाले प्रमाणों से सजा देते और हर कदम पर हमसे सवाल पूछते जाते। हर प्रमाण पूरा करने के बाद वे QED लिखना कभी नहीं भूलते थे। हर प्रमेय के अन्त में QED लिखना एक रिवाज़ था जिसका पालन वे पूरी निष्ठा से करते थे।

कई वर्षों बाद, यह जानकर मुझे बहुत अच्छा लगा कि महात्मा गांधी युक्लिड की एलीमेंट्स में तर्क की ताकत के प्रशंसक थे। उन्हें यह पुस्तक स्कूल में पढ़ाई गई थी। अपनी आत्मकथा, सत्य के प्रयोग (*The Story Of My Experiments With Truth*), में वे याद करते हैं,

"जब प्रयत्न करते-करते मैं युक्लिड के तेरहवें प्रमेय पर पहुँचा, तो अचानक मुझे बोध हुआ कि भूमिति तो सरल-से-सरल विषय है जिसमें केवल बुद्धि का सीधा व सरल प्रयोग ही करना है, उसमें कठिनाई क्या है? उसके बाद तो भूमिति मेरे लिए सदा सरल और सरस विषय बना रहा।"

जो लोग स्कूल के शुरुआती वर्षों में युक्लिडियन ज्यामिति के साथ जूझते हैं, गांधी जैसे उनका हौसला बढ़ाते हुए कह रहे हैं: "तेरहवें प्रमेय का इन्तज़ार करो, मुझे यकीन है सब कुछ बदल जाएगा।"

चन्ना के साथ जो पहला प्रमेय हमने सिद्ध किया, उसने गणित की मेरी समझ को बदल डाला। इस अनुभव में कुछ तो अलग बात थी।

इस दौरान चन्ना हमें हल्के-से धकेल रहे थे कि हम तथाकथित 'भोले-भाले अनुभववाद' (naïve empiricism) से आगे बढ़ें। इस जुम्ले का मतलब होता है कि आप पैटर्न्स पर इस आधार पर विश्वास नहीं कर सकते कि कुछ संख्याओं को शामिल करके देख लिया कि वही परिणाम कुछ मामलों में मिलता है। जैसे हमने चन्ना से कहा था कि यदि चन्द त्रिभुजों के अन्त:कोणों का योग 180 डिग्री आता है, तो मान लेना चाहिए कि सारे त्रिभुजों के मामले में ऐसा ही होगा।

निसन्देह विज्ञान में इसी विधि का इस्तेमाल होता है, जहाँ आप वस्तुओं की यथार्थ दुनिया के साथ काम करते हैं। हम प्राकृतिक विश्व के अपने अवलोकनों के आधार पर प्रत्यक्ष मापन पर भरोसा करते हैं। इन अवलोकनों के आधार पर हम सामान्य सिद्धान्त बनाते हैं कि क्यों कोई चीज़ हो रही है। उसी तरह के और-और अवलोकन होने पर सिद्धान्त सुदृढ़ होता जाता है। फिर किसी समय यह एक नियम बन जाता है। लेकिन त्रिभुज वाले मामले में हम अटक गए क्योंकि हमें यह पता नहीं था कि प्रमेय की सत्यता स्थापित करने के लिए हमें कितने त्रिभुजों को नापना होगा। यही बात विकराल विपरीत उदाहरण के बारे में भी सही थी। फिर हमारा सामना युक्लिड से हुआ जिन्होंने हमें यह सिद्ध करने का रास्ता दिखाया कि चाहे जितने त्रिभुज नाप लें, यह प्रमेय खरी है। तो, गणितीय प्रमाण किसी दावे की सत्यता स्थापित करने के लिए अपरिहार्य औज़ार है।

बहुतेरी ज्यामितियाँ?

लेकिन कहानी में एक पेंच है। चलिए, मैं अब आता हूँ विवादास्पद समानान्तर मान्यता (अभिधारणा) पर। यह अभिधारणा हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि जगह सपाट है, वक्र नहीं है क्योंकि दो समानान्तर रेखाएँ अनिश्चित तौर पर आगे बढ़ती जा सकती हैं। युक्लिड के करीब 2000 वर्ष बाद 'गैर-युक्लिडीय' ज्यामिति के उद्‌भव के साथ इस मत को बदलना पड़ा था। मैं यहाँ इन ज्यामितियों को छू भर पाऊँगा। चन्ना ने भी इनकी संक्षिप्त चर्चा ही की थी।

याद कीजिए युक्लिड ने अभिधारणा 5 में क्या कहा था: यदि दो रेखाएँ किसी तीसरी रेखा को इस तरह काटें कि अन्त:कोणों का योग दो समकोण (180 डिग्री) से कम हो, यदि उन दो रेखाओं को अनिश्चित तौर तक उस दिशा में बढ़ाया जाए, जिस ओर कोण बने हैं, तो वे अनिवार्य रूप से एक-दूसरे को काटेंगी या मिल जाएँगी। इसे चित्र-3 में दर्शाया गया है, जहाँ अन्त:कोणों का योग $a+b < 180$ डिग्री है।

दूसरी ओर, युक्लिड के अनुसार, यदि अन्त:कोण $a+b = 180$ डिग्री है

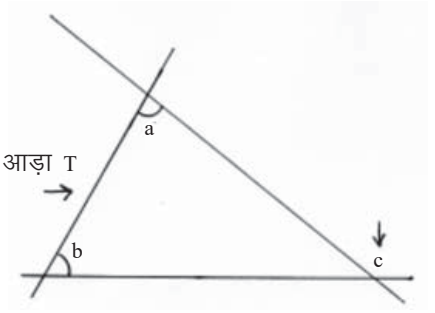

चित्र-3: *जब एक आड़ा T दो रेखाओं को काटता है जो समानान्तर नहीं हैं और आपस में मिलती हैं, आन्तरिक कोणों a और b का योग 180 डिग्री से कम होता है।*

तो वे रेखाएँ, चाहे जितनी भी बढ़ाई जाएँ, कभी नहीं मिलेंगी।

अब चित्र-4 को देखिए। इसमें एक ऐसी स्थिति प्रस्तुत की गई है जो इस समझ को सिर के बल खड़ा कर देती है।

यह रेखाचित्र दर्शाता है कि अक्षांश और देशान्तर रेखाओं का ताना-बाना किस तरह बना है (अपनी भूगोल की कक्षा याद कीजिए और ग्लोब पर इस बात की जाँच कर लीजिए)। दो देशान्तर रेखाएँ (तीर के चिन्ह से दर्शाई गई हैं) अक्षांश रेखाओं (इन्हें भी तीर से दर्शाया गया है) को समकोण पर काटती हैं। अर्थात् समानान्तर अभिधारणा के हिसाब से दो देशान्तर रेखाएँ एक-दूसरे के समानान्तर हैं। अभिधारणा कहती है कि अनिश्चित दूरी तक बढ़ाए जाने पर इन रेखाओं को कभी नहीं मिलना चाहिए। मगर इस मामले में ये रेखाएँ ध्रुवों पर मिलती हैं, और पृथ्वी की सतह पर एक साफ-सुथरा त्रिभुज ABC बनाती हैं। तो यह एक ऐसे त्रिभुज का स्पष्ट उदाहरण है, जिसके तीन कोणों का योग (A+B+C) 180 डिग्री से अधिक है। इसके लिए एक अलग किस्म की ज्यामिति की दरकार है जिसमें युक्लिड का समानान्तर स्वयंसिद्ध सिद्धान्त काम ही नहीं करता।

तो, युक्लिड पर्याप्त नहीं है। समझे? मामला कुछ और भी है। त्रिभुज सदैव सपाट सतहों पर ही तो नहीं बनाए जाते। हम गोलाईदार सतहों पर भी त्रिभुज बना सकते हैं। उक्त चित्र में एक और दिलचस्प बात यह देखी जा सकती है कि अक्षांश रेखाएँ भी एक-दूसरे के समानान्तर हैं। अलबत्ता, यदि हम पैदल या किसी वाहन में चढ़कर किसी अक्षांश रेखा पर यात्रा करें तो हम वास्तव में उसी

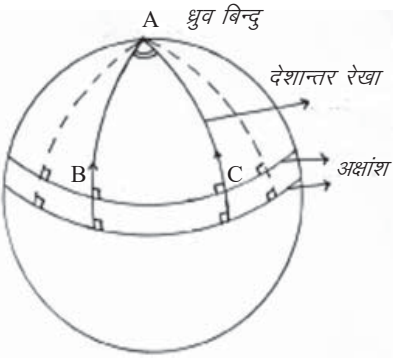

चित्र-4: *ΔABC के कोणों का योग 180 डिग्री से अधिक है।*

चित्र-5

बिन्दु पर लौट आएँगे जहाँ से यात्रा शुरू की थी। ऐसा होना युक्लिडियन जगह में सम्भव नहीं है जहाँ समानान्तर रेखाओं को दोनों दिशाओं मे अनिश्चित दूरी तक बढ़ाया जा सकता है।

हम बातचीत के इस सिलसिले को आगे बढ़ा सकते हैं। चित्र-5 में तीन त्रिभुजों को देखिए, जिन्हें तीन किस्म की सतहों पर बनाया गया है: एक सपाट सतह, जैसे आपकी मेज़ पर, जिसमें त्रिभुज के तीन कोणों का योग 180 डिग्री है (यही तो हमें स्कूल में बताया गया था); एक गोलीय सतह पर (जिसमें पृथ्वी की सतह के समान एक धनात्मक वक्रता है), जिसमें त्रिभुज के तीन कोणों का योग 180 डिग्री से ज़्यादा है; और एक अतिपरवलयाकार (hyperbolic) सतह

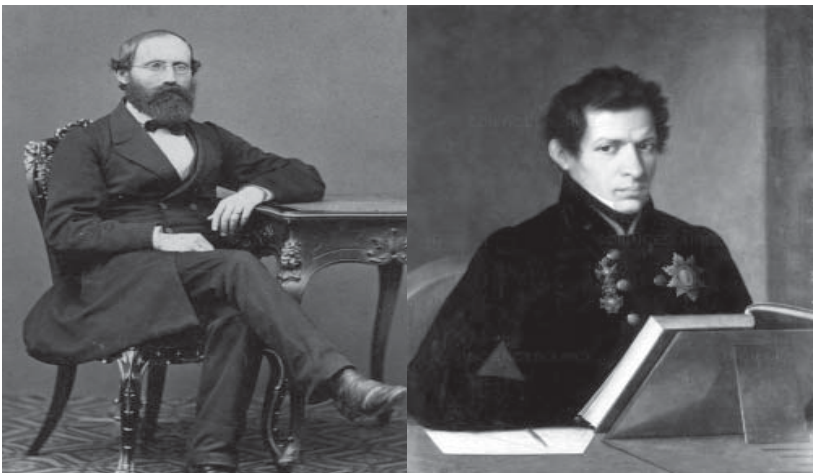

बर्नहार्ड रीमैनियन (1826-66 सीई) और निकोलाई लोबाचेव्सकियन (1792-1856 सीई) ने हमें समतल युक्लिड सतहों के परे सोचने की चुनौती दी थी और दिखाया कि अन्य सतहों पर समान रूप से सुसंगत ज्यामितियाँ हो सकती हैं।

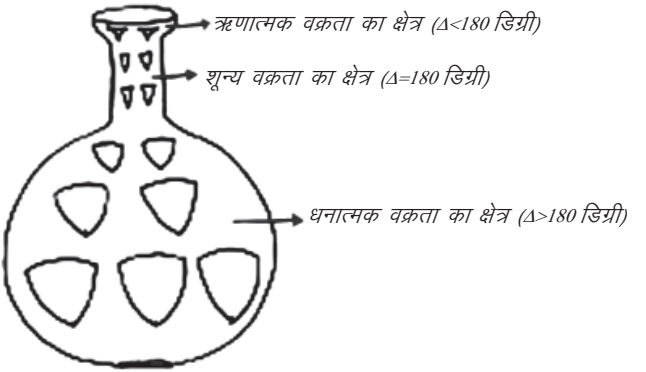

चित्र-6

पर (जिसकी वक्रता ऋणात्मक है, जैसे घोड़े की पीठ पर कसी ज़ीन) जहाँ तीन कोणों का योग 180 डिग्री से कम है। बाद वाली दो सतहों की ज्यामिति उस ज्यामिति से बहुत अलग होती है जो हमें स्कूल में सिखाई गई थी क्योंकि समानान्तर अभिधारणा यहाँ सत्य नहीं बैठती।

दो सबसे मशहूर गैर-युक्लिड ज्यामितियाँ हैं - 'रीमैनियन' और 'लोबाचेव्सकियन' ज्यामितियाँ।

मुझे कभी-कभी इस बात पर आश्चर्य होता है कि गणितज्ञों को गैर-युक्लिड ज्यामिति खोजने में इतना समय क्यों लगा, जबकि कलाकार और मूर्तिकार जैसे लोग तो गोलीय सतहों पर काम करते ही आए थे। फिर गोलीय दर्पण भी तो हैं। ऐसे क्षेत्रों में काम करने के लिए गोलीय सतहों के गुणधर्मों की काफी अच्छी समझ और हुनर की ज़रूरत होती है। खैर, इस मामले को यहीं छोड़ते हैं।

आप उपरोक्त तीन किस्म की सतहों को एक मिट्टी के घड़े (जाने-माने मटके) या फूलदान की मदद से भी समझ सकते हैं। इन पर आप तीनों किस्म के त्रिभुज बनाकर देख सकते हैं, यह इस बात पर निर्भर होगा कि आप त्रिभुज को मटके के किस हिस्से पर बनाते हैं। सोचिए इसके बारे में।

फिलहाल, प्रमाण के विचार की चर्चा पर लौटते हैं। यह लिखते-लिखते मुझे एक और चीज़ महत्वपूर्ण लग रही है। हाई स्कूल में प्रमाण के विचार के साथ जूझना थोड़ा भारी लग सकता है और कुछ लोग कह सकते हैं कि यह चीज़ 13-14 साल

के बच्चों को नहीं पढ़ाई जानी चाहिए। लेकिन मुझे लगता है कि सामान्य तौर पर और गणित में प्रमाण और कुछ नहीं, सत्य की तलाश का ही दूसरा नाम है। यह निहित पैटर्न व अन्तरसम्बन्धों की व्यवस्थित खोज और उनके बारे में निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है।

परम-सत्य विहीन, सत्य की तलाश

मेरे ख्याल में, सत्य की तलाश शिक्षा का प्रमुख कार्य है, और यह छात्र को परीक्षा उत्तीर्ण करने और बढ़िया अंक प्राप्त करने हेतु तैयार करवाने से कहीं आगे जाता है। सवाल यह है:

मैं कैसे जानता हूँ कि कोई बात सत्य है? और फिर, मैं यह कैसे जानता हूँ कि मैं जानता हूँ? यहीं पर यह ज़रूरी हो जाता है कि मैं उन तरीकों के प्रति आश्वस्त रहूँ जिनका उपयोग मैं किसी दावे को सत्य अथवा असत्य प्रमाणित करने के लिए कर रहा हूँ। मेरा मानना है कि सत्य की तलाश सिर्फ यह नहीं है कि आप सही ज्ञान अर्जित कर लें, बल्कि यह भी है कि आप उस सत्य को कर्म में जीएँ। निसन्देह, इसके लिए अलग से चर्चा की ज़रूरत होगी।

चन्ना से मुझे जो सन्देश मिला था, वह इसी तलाश को लेकर था। वे हमें सिर्फ यह नहीं कहते थे कि सवाल छुड़ाओ और आगे बढ़ जाओ। सावधानीपूर्वक चुने हुए पड़ावों पर वे परिप्रेक्ष्य साझा करते थे जो हमारी निर्धारित विषयवस्तु की माँग से कहीं आगे जाता था। उन्होंने ऐसे कई झरोखे खोल दिए जिनमें से हम कई विश्वों के अन्दर झाँक सकते थे, असीमित पैटर्न्स और अपने दिमाग की सम्भावनाओं को देख सकते थे।

मेरे विचार में परिप्रेक्ष्य का विकास सीखने का महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह अच्छे अंक लाने से कहीं आगे जाता है। परिप्रेक्ष्य ही वह चीज़ होती है जो आपको किसी विषय से जुड़ने में और अन्ततः उसके प्रति प्रेम विकसित करने में मदद करता है। सीखने की प्रक्रिया में, परिप्रेक्ष्य विकसित करने का मतलब यह जानना होता है कि आप कोई चीज़ क्यों सीख रहे हैं। इसका सम्बन्ध यह जानने से भी है कि जो विचार या अवधारणा आप सीख रहे हैं, वह समय के साथ कैसे विकसित हुई है। और सबसे बड़ी बात तो यह समझना है कि आपने जो कुछ सीखा है, वह ज्ञान के अन्य खण्डों से और हमारे जीवन के अनगिनत पहलुओं से कैसे जुड़ा है। परिप्रेक्ष्य वह चीज़ है जो एक सीखने वाले के नाते हमें आज़ाद कर देता है और प्रायः हम 'आहा!' कह उठते हैं। यह आनन्द का सबब बनता है।

चन्ना ने जो कहानियाँ सुनाईं, उन्होंने मुझे परिप्रेक्ष्य विकसित करने में मदद की। उन्होंने मुझे यह समझने में समर्थ बनाया कि गणितीय विचारों को सीखने में मैं कहाँ स्थित हूँ। अब मैं समझता हूँ कि सत्य विभिन्न किस्म के हो सकते हैं, जो हमारे फ्रेम ऑफ रेफरेंस (निर्देश तंत्र) - यानी हम चीज़ों को कहाँ से देख रहे हैं - पर निर्भर करता है। हम यह बात युक्लिड के सन्दर्भ में देख ही चुके हैं; हालाँकि नए फ्रेम ऑफ रेफरेंस उभरने में लगभग 2000 साल लग गए थे। जिस चीज़ को युक्लिड की ज्यामिति में सत्य माना जाता है, वह अन्य किस्म की ज्यामिति में सत्य नहीं होती। ज्ञान अपने-आप में परम सत्य नहीं होता।

हम सचमुच चीज़ों की गहराई में घुस रहे थे।

प्राचीन काल के एक महान विचारक अरस्तू ने कहा था, "यदि आप कोई भी चीज़ समझना चाहते हैं, तो उसकी शुरुआत को देखिए और उसके विकास को देखिए।"

चन्ना ने इसका उपयोग अपने शिक्षण में एक बुनियादी सिद्धान्त के रूप में किया था। कहानी के साथ जोड़कर इतिहास के उपयोग ने ज़बरदस्त असर पैदा किया था।

हम सब यहाँ पहले आ चुके थे। हम एक बार फिर वहाँ लौटे, यह समझने के लिए कि अगला पड़ाव कहाँ होगा।

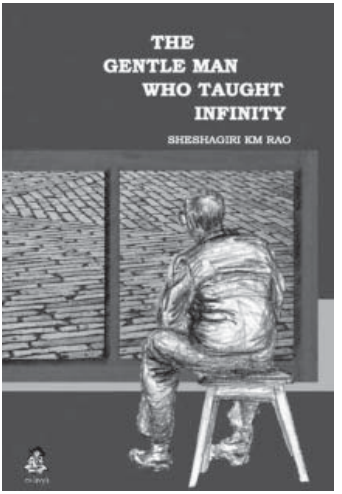

शेषागिरी केएम राव: यूनीसेफ, छत्तीसगढ़ में शिक्षा विशेषज्ञ हैं। प्रारम्भिक शिक्षा और बाल्यावस्था में विकास में विशेष रुचि। साथ ही, आधुनिक शैक्षिक मुद्दों पर लिखने में दिलचस्पी।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: सुशील जोशी: *एकलव्य* द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

यह लेख *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित पुस्तक *द जेंटलमैन हू टॉट इंफिनिटी* से लिया गया एक अंश है।

प्रकाश की गति, ईथर और सटीक मापन

अंजु दास मानिकपुरी

पिछली दो किश्तों में हमने देखा कि पहले यह मान्यता थी कि प्रकाश की गति अनन्त है। लेकिन 17वीं सदी में प्रकाश की गति को नापने की कोशिश शुरू हुई। पहले खगोलीय विधियों से प्रकाश की गति नापी गईं, फिर धरती पर ही विविध उपकरणों की मदद से। हर कोशिश के बाद हम प्रकाश की गति की माप को परिष्कृत करते जा रहे थे। एक मोटा-मोटा अन्दाज़ सभी को हो चला था कि प्रकाश की गति कितनी हो सकती है। जब धरती पर प्रकाश की गति को नापा जा रहा था तो एक और बात समझ में आई कि नपाई के लिए ज़रूरी उपकरणों को बनाना, उनमें सुधार करना जैसे बहुत-से कारक अब हमारे हाथ में थे। जितनी कम-से-कम गलतियों के साथ मापन करेंगे, उतनी ही सटीकता से गति का मापन भी हो पाएगा।

दाँतेदातर पहिये और घूमने वाले दर्पण से आगे

फीज़ो व फूको की कोशिशों से इतना स्पष्ट हो गया था कि प्रकाश की गति को धरती पर मौजूद परिस्थितयों में भी मापा जा सकता है। यह भी समझ में आ गया था कि प्रकाश की गति मापने का दाँतेदार पहिए के ज़रिए अपनाया गया तरीका या दर्पण घुमाने वाली विधि, इन सब में अभी और सुधार की गुंजाइश है। उपकरण, मापन व गणना में जितनी सटीकता आएगी, प्रकाश की गति का मान भी उतना ही सटीक होता जाएगा। इस सन्दर्भ में फीज़ो व फूको के काम को बाद के वैज्ञानिकों ने आगे बढ़ाया। जैसे दाँतेदार पहिया विधि पर मैरी अल्फ्रेड कोरनु (Marie Alfred Cornu) ने काम शुरू किया। कोरनु ने देखा कि प्रकाश के परावर्तन को नोट करने वाले अवलोकनकर्ता को पहिए की गति को बढ़ाने-घटाने के अलावा अवलोकन भी नोट करना होता था। इस काम में भूल-चूक की सम्भावना बनी रहती थी। इसलिए कोरनु ने इस भूल-चूक को कम किया, अच्छे प्रकाश-स्रोत का इस्तेमाल किया और इस सबके बाद प्रकाश की गति को 2,98,500 कि.मी. प्रति सेकण्ड बताया।

फूको की विधि में सुधार करके प्रकाश की गति पर काम को आगे बढ़ाया अमरीकी वैज्ञानिक अल्बर्ट माइकलसन ने। उन्होंने सन् 1879 में दर्पण घूमने की गति वाली विधि में सुधार करते हुए प्रकाश की गति को

हमारी मौजूदा मान्य गति के बेहद करीब पहुँचा दिया। लगभग 2,99,000 कि.मी. प्रति सेकण्ड तक। माइकलसन यहीं पर रुके नहीं - सन् 1923 में उन्होंने 37 कि.मी. (लगभग 22 मील) की दूरी पर स्थित दो पहाड़ियों पर संवेदनशील उपकरण सेट करते हुए प्रकाश की गति के मान को और सटीक किया। (सोचिए गैलीलियो लालटेन की मदद से प्रयोग कर रहे थे और माइकलसन बिजली की रोशनी का उपयोग कर रहे थे, इसलिए वे प्रकाश की किरणों को 37 कि.मी. दूर भेजने की स्थिति में थे।) माइकलसन ने निर्वात नली में भी प्रकाश की गति मालूम की थी। माइकलसन प्रकाश की गति के साथ अब प्रकाश के गुणधर्मों को लेकर भी सोच-विचार कर रहे थे।

इस समय तक वैज्ञानिक बिरादरी को समझ में आ गया था कि ये बस वक्त की बात है, जैसे-जैसे तकनीकें विकसित होती जाएँगी, गति का मान शुद्धतम होता चला जाएगा। लेकिन यहाँ तक आते-आते प्रकाश की प्रकृति को लेकर एक और अहम मुद्दा उभर आया था। क्या प्रकाश कण है, या प्रकाश तरंग है या प्रकाश दोनों रूपों में अस्तित्व में है।

प्रकाश तरंग और ईथर

उन्नीसवीं सदी में भौतिकविद थॉमस यंग द्वारा प्रकाश के व्यतिकरण (इंटरफेरेंस) गुण के अध्ययन के दौरान डबल स्लिट प्रयोग के बाद यह विश्वास पक्का होता जा रहा था कि प्रकाश तरंग प्रकृति का होता है। यह एक आम अनुभव है कि तरंगों के संचरण के लिए माध्यम की ज़रूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए, ध्वनि तरंगों को संचरण करने के लिए किसी ठोस, द्रव या गैसीय माध्यम की ज़रूरत पड़ती है। दूसरी बात, ध्वनि के साथ यह भी देखा गया कि निर्वात में ध्वनि गमन नहीं कर सकती। यदि यह मान लिया जाए कि प्रकाश भी एक किस्म की तरंग है तो उसे किसी माध्यम की ज़रूरत होगी। यदि अन्तरिक्ष में तारों के बीच की जगह में कोई पदार्थ नहीं है तो सूरज, चांद, सितारों की रोशनी धरती तक किस तरह पहुँचती होगी? प्रकाश की गति पता करने वाले एक प्रयोग में तो प्रकाश की गति निर्वात में भी मालूम की गई थी। निर्वात में तो कुछ भी नहीं होता तो फिर ये लहरें कैसे बनीं, लहरें वास्तव में किस पदार्थ की थीं? सैकड़ों साल पहले यूनानी दार्शनिकों ने आकाश तत्व को ईथर कहा था। 19वीं सदी में समझ आया कि अगर ईथर के अस्तित्व को मान लिया जाए तो कुछ व्याख्याएँ आसान हो जाती हैं। मसलन, सूरज और पृथ्वी के बीच के अन्तरिक्ष में पारदर्शी ईथर भरा है जिसकी वजह से सूरज की रोशनी तरंगों के रूप में ईथर से होती हुई धरती तक पहुँचती है।

ब्रह्माण्ड में सब कुछ तो चलायमान है। पृथ्वी अपने अक्ष पर घूम रही है, लेकिन यह अक्ष भी कहाँ स्थिर है - पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ चक्कर लगाती है, फिर सूर्य भी स्थिर नहीं है। वो भी तो आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा कर रहा है, आकाशगंगा भी तो स्थिर नहीं है, वो भी गति कर रही है। इस ऊहापोह की स्थिति में यह विचार रखा गया कि ईथर तो ब्रह्माण्ड का मूल तानाबाना है, इसलिए वो स्थिर रहेगा, पूरी तरह विश्राम अवस्था में रहेगा।

माइकलसन सोचने लगे कि यदि ईथर विश्राम अवस्था में है, तो जब प्रकाश किरण को किसी एक दिशा में छोड़ा जाए तो वो स्थिर ईथर में से होकर गुज़रेगी। किरण की दिशा और धरती की गति की दिशा एक ही हुई तो प्रकाश का वेग और धरती की गति का वेग आपस में जुड़ जाएँगे। यदि किरण की दिशा और धरती के घूमने की दिशा विपरीत है तो प्रकाश का वेग थोड़ा कम होना चाहिए। यदि इन दोनों स्थितियों में प्रकाश का वेग मालूम हो जाए तो ईथर के सापेक्ष धरती की निरपेक्ष (यानी एबसोल्यूट) गति मालूम कर सकते हैं। यदि आपको धरती की एबसोल्यूट गति मालूम हो तो अन्य एबसोल्यूट गतियों को मालूम कर सकते हैं। यहाँ एक छोटी-सी समस्या थी कि प्रकाश की गति की तुलना में धरती की गति नगण्य थी, इसलिए प्रकाश की गति में धरती की गति जोड़ने या घटाने से कोई उल्लेखनीय फर्क नहीं दिखने वाला था, इसलिए इस प्रयोग को बहुत ध्यान एवं सोच-विचार के साथ करने की ज़रूरत थी।

माइकलसन का प्रयोग

खैर, माइकलसन ने सन् 1881 में फूको के प्रयोग में थोड़ा सुधार करते हुए एक इंटरफेरोमीटर का उपयोग किया था। इस प्रयोग में उन्होंने एक सोडियम लौ से प्राप्त पीली रोशनी की किरण को 45 अंश के आपातित कोण से अर्धपरावर्ती/अर्धपारदर्शी दर्पण के माध्यम से गुज़रने दिया। दर्पण किरण को एक-दूसरे से लम्बवत दो किरणों में बाँटता था। इसके बाद दोनों किरणें अलग-अलग दिशा में चलती हुई स्थिर दर्पण से टकराकर वापस आती हैं। वापस आई किरणों के व्यतिकरण (इंटरफेरेंस) के पैटर्न का अवलोकन किया जाता था।

माइकलसन ने सोचा, यदि ईथर स्थिर है और पृथ्वी गतिशील, तो प्रकाश की समकोणिक दिशा में गई दो किरणें कुछ मामूली फर्क गति से अपना सफर तय करेंगी।

चूँकि अवलोकनकर्ता तक पहुँचने वाली दोनों तरंगों के वेग में थोड़ा-सा फर्क होगा, इसलिए दोनों तरंगें एक-दूसरे से एकदम मेल नहीं खाएँगी। गति में अन्तर की वजह से इन दो किरणों के फेज़ (phase) में फर्क होगा।

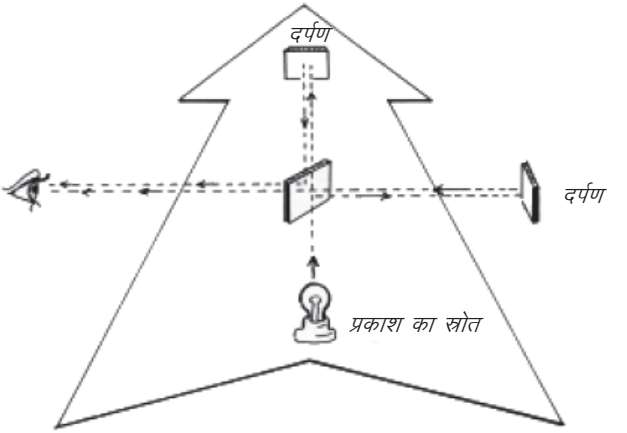

चित्र-1: *इंटरफेरोमीटर व प्रकाश की दो किरणें - प्रकाश की गति का मोटा-मोटा अन्दाज़ तो मिल गया था। लेकिन कुछ और सवाल भी थे जैसे क्या किसी प्रकाश स्रोत से निकलने वाली प्रकाश किरणें सभी दिशाओं में समान गति से चलती हैं या धरती की गति और ईथर की मौजूदगी से कोई अन्तर आता है। माइकलसन इस सवाल का जवाब भी खोज रहे थे। उन्होंने एक नया उपकरण – इंटरफेरोमीटर - डिज़ाइन किया। इंटरफेरोमीटर प्रकाश की किरणों को एक-दूसरे से समकोण दिशा में भेजने में सक्षम था। माइकलसन ने एक सोडियम लौ की किरण को अर्धपरावर्ती-अर्धपारदर्शी दर्पण के माध्यम से गुज़रने दिया। यह दर्पण सोडियम किरण को दो ऐसी किरणों में बाँटता था जो एक-दूसरे के लम्बवत होती थीं। ये दोनों किरणें अपने गन्तव्य तक जाकर स्थिर दर्पण से टकराकर वापस लौटती थीं। माइकलसन का मानना था कि यदि ईथर स्थिर है और पृथ्वी गतिशील हो तो प्रकाश की अलग-अलग दिशा में गई किरणें कुछ मामूली फर्क गति से अपना सफर तय करेंगी। इसके कारण लौटकर आईं इन दोनों किरणों में फेज़-अन्तर की वजह से व्यतिकरण पैटर्न, यानी तेज़ और मन्द रोशनी के पट्टे जिन्हें फ्रिंज कहा जाता है, मिलेंगे।*

चूँकि पृथ्वी अपनी धुरी के इर्द-गिर्द लगातार घूम रही है, इंटरफेरोमीटर की दोनों भुजाओं की ओर जाने वाली प्रकाश किरणों को वापस लौटने में लगने वाले समय में अन्तर होगा। और इस वजह से व्यतिकरण की वजह से उत्पन्न पैटर्न अपनी पहले की जगह से थोड़ा-सा खिसक जाएगा। यानी पहले प्राप्त फ्रिंज्स की स्थिति में कुछ बदलाव हो जाएगा। एक पूरा दिन गुज़र जाने पर, यानी कि धरती के 360 डिग्री घूम जाने पर अपेक्षा थी कि व्यतिकरण पैटर्न में खिसकाव फ्रिंज की मोटाई का 0.04 अंश होगा।

यदि दोनों तरंगों के आरोह या अवरोह का मेल हो, दोनों तरंगें एक-दूसरे को सुदृढ़ करेंगी, जिससे पर्दे पर तेज़ चमक दिखाई देगी और जहाँ एक तरंग का आरोह, दूसरी के अवरोह से मिलेगा, दोनों तरंगें एक-दूसरे को निष्प्रभावी बना देंगी, वहाँ चमक मन्द पड़ जाएगी। माइकलसन ने पर्दे पर बनने वाली तेज़ और मन्द रोशनी की पट्टियों को फ्रिंज कहा।

माइकलसन को उम्मीद थी कि पृथ्वी की घूर्णन गति की वजह से फ्रिंज की स्थिति में चौबीस घण्टे में, फ्रिंज की मोटाई का 0.04 अन्तर

आएगा। पर माइकलसन को यह मान लगभग 0.018 प्राप्त हुआ। माइकलसन इस प्रयोग को दोहराते रहे और अवलोकन नोट करते रहे। अपने अवलोकनों के आधार पर उन्होंने अपना रिसर्च पेपर अमेरिका की एक प्रतिष्ठित विज्ञान पत्रिका *अमेरिकन जर्नल ऑफ साइंस* में प्रकाशित किया। इसे पढ़कर लाव्रेंज नाम के वैज्ञानिक ने माइकलसन के प्रयोग के बारे में लिखा कि माइकलसन ने प्रयोग करते समय गणना सम्बन्धी कुछ गलतियाँ की थीं, जिसके कारण उसे अलग मान प्राप्त हुआ, दरअसल यह मान तो 0.02 के बराबर था। वहीं दूसरी तरफ इस प्रकाशित पर्चे को पढ़कर रैले ने माइकलसन को एक हौसला बढ़ाने वाली चिट्ठी लिखी कि अपने प्रयोग को फिर दोहराएँ और ज़्यादा सटीकता से करें।

माइकलसन लगातार अपने प्रयोग पर काम करते रहे। वे लगातार सोच रहे थे कि यदि ईथर जैसा कोई माध्यम है तो इंटरफेरेंस फ्रिंज में खिसकाव क्यों नहीं मिल रहा है? हर बार एक ही तरह का नतीजा आ रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे प्रकाश किसी भी माध्यम में गति करे, किसी भी दिशा में गति करे, उसकी चाल एक ही थी। चाहे ईथर हो या पृथ्वी की गति, प्रकाश की चाल पर कोई फर्क नहीं पड़ रहा है। इस तरह ईथर के अस्तित्व पर एक सवालिया निशान लग रहा था।

माइकलसन-मोर्ले का प्रयोग

माइकलसन ने अपने आँकड़ों को रसायन के प्रोफेसर मोर्ले के साथ साझा किया। सारे दस्तावेज़ों को पढ़कर मोर्ले ने इस प्रयोग को दोहराने की ठानी। सन् 1887 में माइकलसन-मोर्ले के प्रयोग में इस बार इस्तेमाल किया गया उपकरण मर्क्यूरी पर तैर रहा था, जिसे लगातार घुमाया जा रहा था। इस बार व्यतिकरण पैटर्न की पहचान और मापन ज़्यादा सटीकता से हो सके इसलिए दोनों ने यह प्रयोग छात्रावास के एक बन्द कमरे में किया। आधुनिक और संवेदनशील उपकरणों का इस्तेमाल करते हुए प्रयोग का ऐसा इन्तज़ाम किया जहाँ त्रुटि की सम्भावना बिलकुल न हो। चूँकि इस बार उपकरण ज़्यादा संवेदनशील था इसलिए फ्रिंज में अपेक्षित शिफ्ट फ्रिंज की मोटाई का 0.4 थी, लेकिन इस बार भी फ्रिंज शिफ्ट नहीं पाई गई। जो परिणाम दिखाई दे रहे थे, उनके अनुसार प्रकाश किसी भी दिशा में सफर करे, सफर की दिशा का प्रकाश की गति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। या दूसरे शब्दों में कहें कि प्रकाश सभी दिशाओं में एक-जैसी गति से चलता है।

इस तरह उन्होंने ईथर के अस्तित्व पर न केवल सवाल खड़ा किया, बल्कि विज्ञान को एक नई दिशा की ओर इंगित किया कि शायद प्रकाश

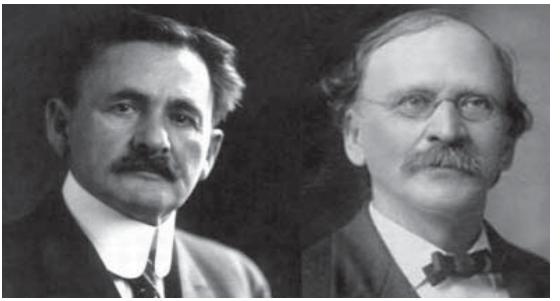

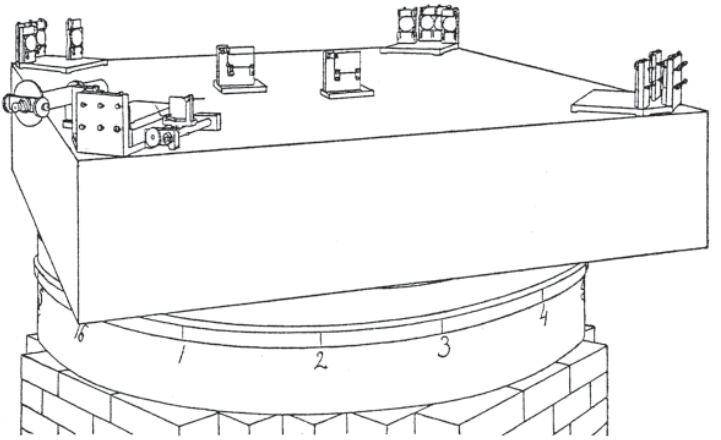

चित्र-2: *माइकलसन व मोर्ले का प्रयोग - अपने पिछले सभी प्रयोगों और अवलोकनों को ध्यान में रखते हुए माइकलसन व मोर्ले ने काफी पुख्ता तैयारी के साथ इस बार प्रयोग करने की ठानी थी। इसके लिए उन्होंने छात्रावास का बन्द कमरा चुना ताकि प्रकाश किरणों के मन्द होने या तीव्र होने को बेहतर तरीके से नापा जा सके। उनके उपकरण संवेदनशील व परिष्कृत थे। उनका मुख्य उपकरण पारे से भरे एक बड़े पात्र में तैर रहा था, इस तैरते उपकरण को लगातार घुमाया भी जा रहा था। इस बार बेहतर उपकरण की वजह से फ्रिंज शिफ्ट का अपेक्षित मान 0.4 था, लेकिन अफसोस कि इस बार भी फ्रिंज शिफ्ट नहीं पाई गई और माइकलसन व मोर्ले यह सोचने लगे कि क्या वास्तव में ईथर है या यह सिर्फ परिकल्पना मात्र है।*

के गमन के लिए ईथर जैसे किसी माध्यम की ज़रूरत ही नहीं है। प्राप्त आँकड़ों के अध्ययन को माइकलसन ने मोर्ले के सहलेखन के साथ उसी पत्रिका में 1887 में फिर प्रकाशित किया। इस पेपर का शीर्षक था - द रिलेटिव मोशन ऑफ द अर्थ एंड द ल्यूमिनफेरस ईथर। लेकिन इस प्रयोग के परिणामों को असली प्रकाश तभी

विज्ञान में प्रक्रियाएँ

अक्सर, विज्ञान के इतिहास में किन्हीं प्रयोगों, उपकरणों, अवधारणाओं के साथ किसी वैज्ञानिक या व्यक्ति का नाम काफी ज़ोर-शोर से लिया जाता है। इसकी वजह से उस विधि, उपकरण या अवधारणा या विचार के साथ उस व्यक्ति का नाम चस्पा हो जाता है। विज्ञान में ऐसी प्रक्रियाओं में अनेक लोगों की सहभागिता रहती है। एक बड़ी बिरादरी होती है जिसमें वैज्ञानिक, गणितज्ञ, उपकरण बनाने वाले तकनीशियन, सलाह-मशविरे के लिए वैज्ञानिक दोस्त, शोधपत्र पर विमर्श के लिए विभिन्न वैज्ञानिक फोरम, प्रोजेक्ट फण्ड का बन्दोबस्त करने वाले आदि शामिल हैं। यह सही है कि विचार किसी एक व्यक्ति के मन में उठा लेकिन धीरे-धीरे वो बिरादरी के विमर्श का हिस्सा बनता जाता है। आपको जब ज़रूरत हो तो आप किसी अनुभवी की मदद भी ले सकते हैं जैसे 18वीं सदी में इंग्लैंड के एक खगोलविद मोलिनिअस तारों के पैरेलेक्स का अध्ययन कर रहे थे। उनके पास नए उपकरण थे लेकिन वे अवलोकन व गणनाओं को लेकर आश्वस्त नहीं थे। तो, उन्होंने जेम्स ब्रेडली को बुलाया और उनसे मदद ली। बाद में मोलिनिअस व ब्रेडली ने मिलकर ड्रेको नक्षत्र के तारे के विचलन के अवलोकन व गणनाएँ कीं। इसी तरह जेम्स ब्रेडली जब तारों के विचलन और प्रकाश की गति पर काम कर रहे थे तो वे वरिष्ठ खगोलविद एडमंड हैली के सम्पर्क में थे, और अपने नोट्स व गणनाएँ हैली के साथ लगातार साझा कर रहे थे, जिससे ब्रेडली को मदद मिली। फीज़ो व फूको ने भी फ्रान्स्वाँ एरिगो व अन्य पूर्ववर्तियों के प्रयोग को आधार बनाकर दाँतेदार पहिए या दर्पण को घुमाया था। बाद के वैज्ञानिकों ने फीज़ो-फूको की विधि में सुधार करके प्रकाश की गति को और सूक्ष्मता से नापने की कोशिश की। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का ही हिस्सा है कि कोई आपके प्रयासों को सराहता है, सही दिशा देता है, कोई तार्किक सवाल दागकर विचार को और पुख्ता बनाने में मदद करता है। अन्त में नाम किसी एक व्यक्ति का चस्पा हो जाता है मगर ऐसे ही मिले-जुले प्रयासों से विज्ञान आगे बढ़ता है।

- विभिन्न स्रोतों से संकलित

मिल पाया जब 1905 में आइंस्टीन का सापेक्षता का सिद्धान्त प्रकाशित हुआ।

प्रकाश व विद्युत चुम्बकीय तरंगें

आज भले ही हमें स्कूली किताबों में बताया जाता है कि प्रकाश एक विद्युत-चुम्बकीय तरंग है लेकिन 19वीं सदी में विद्युत, चुम्बकत्व, प्रकाश – सब अलग-अलग ही माने जाते थे। पहले-पहल चुम्बक व विद्युत के बीच सहसम्बन्ध खोजा गया। इसी तरह प्रकाश के विद्युत-चुम्बकीय गुणों का अध्ययन भी चल रहा था और इस सवाल की खोजबीन हो रही थी कि क्या प्रकाश एक विद्युत-चुम्बकीय तरंग है। 1865 में जेम्स क्लार्क मेक्सवेल ने एक रिसर्च पेपर प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था – डायनेमिक थियरी ऑफ इलेक्ट्रो-मेग्नेटिक फील्ड। इस पर्चे का एक अध्याय था – द इलेक्ट्रो-मेग्नेटिक

प्रकाश की प्रकृति

मनुष्य द्वारा प्रकाश को समझने की कोशिश का इतिहास काफी पुराना है। यूनानियों का अनुमान था कि प्रकाश कणों से बना है। प्रकाश के बारे में किसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले सबसे पहले व्यक्ति शायद पाइथागॉरस थे (582-500 ईसवी पूर्व), जो यूनानी दार्शनिक और गणितज्ञ थे। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने प्रकाश के 'कण सिद्धान्त' को प्रस्तावित किया। इसके अनुसार नज़र आने वाली हर वस्तु में से लगातार कणों की एक धारा निकलती है जो आँखों पर इन कणों की बौछार करती रहती है। दूसरी तरफ, यूनान के ही एक अन्य दार्शनिक प्लेटो (427-347 ईसवी पूर्व) यह मानते थे कि दृष्टि आँखों में से निकलने वाले प्रकाश से पैदा होती है। यह प्रकाश वस्तुओं पर पड़ता है और उन्हें दृश्य बना देता है। लेकिन प्लेटो के ही शिष्य एक अन्य यूनानी चिन्तक अरस्तु (384-322 ईसवी पूर्व) का मानना था कि प्रकाश तरंगों जैसी किसी चीज़ में गतिशील होता है। यूनानियों ने प्रकाश के परावर्तन और अपवर्तन का भी अध्ययन किया।

कुछ सदियों बाद आइज़ेक न्यूटन (1642-1727) ने प्रकाश का कण (corpuscular) सिद्धान्त दिया। इसके अनुसार प्रकाशमय पिण्ड ऊर्जा का कणों के रूप में विकिरण करते हैं, जो सीधी रेखाओं में चलते हैं। 1678 में, एक डच वैज्ञानिक क्रिस्टियान हाइजेन्स् ने प्रकाश के ध्रुवण (polarization) की खोज की और इसकी व्याख्या करने के लिए प्रकाश के तरंग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। 1801 में एक ब्रितानी वैज्ञानिक थॉमस यंग ने अपने प्रसिद्ध डबल-स्लिट प्रयोग के द्वारा व्यतिकरण (interference) की प्रक्रिया का पता लगाया। व्यतिकरण गुण की व्याख्या भी तरंग सिद्धान्त द्वारा हो पा रही थी। तरंग सिद्धान्त के पैरोकार मानते थे कि प्रकाश किसी पदार्थ या ईथर की सूक्ष्म तरंगें हैं। एक फ्रांसीसी वैज्ञानिक अगस्टिन फ्रेनेल (1788-1827) ने प्रकाश के 'तरंग-सिद्धान्त' का सम्पूर्ण मॉडल विकसित किया, जिसके द्वारा उन्होंने परावर्तन, अपवर्तन, ध्रुवण तथा व्यतिकरण की व्याख्या की।

आम तौर पर प्रकाश के परावर्तन, अपवर्तन, ध्रुवण, व्यतिकरण, विवर्तन जैसे गुणों को प्रकाश की तरंगों वाली प्रकृति से समझा जा सकता है। प्रकाश विद्युत (फोटो-इलेक्ट्रिक) प्रभाव को तरंग की सहायता से नहीं समझाया जा सकता - इसे प्रकाश की कणीय प्रकृति की मदद से ही समझाया जा सकता है। इसी तरह प्रकाश के व्यतिकरण, विवर्तन व ध्रुवण को कणीय प्रकृति से नहीं समझाया जा सकता। इन गुणों को समझाने के लिए प्रकाश की तरंग प्रकृति ही ज़्यादा मददगार है।

इसलिए हमारी मौजूदा समझ के मुताबिक प्रकाश की दोहरी प्रकृति (Dual Nature) मानी जाती है। इसका अर्थ है कि प्रकाश कणों यानी फोटॉन का बना है और विद्युत-चुम्बकीय तरंग भी है। यदि कोई कहे कि प्रकाश तरंगें कण जैसा व्यवहार करती हैं तो हम चौंक जाएँगे कि यह क्या कहा जा रहा है, क्योंकि ये तो हमारे दैनिक अनुभवों से एक बिलकुल फर्क बात कही जा रही है। लेकिन इसे ही स्वीकार करना होगा कि प्रकाश कण व तरंग, दोनों ही है।

- विभिन्न स्रोतों से संकलित

थियरी ऑफ लाइट। इस शोधपत्र ने दुनिया में प्रकाश के स्वभाव पर काम कर रहे लोगों का ध्यान खींचा और पर्चे के प्रकाशन के बाद, प्रकाश के विद्युत-चुम्बकीय गुणधर्म के बारे में बहुत सारे अध्ययन किए जाने लगे, और यह साबित हुआ कि दरअसल प्रकाश एक विद्युत-चुम्बकीय तरंग है। मेक्सवेल के अध्ययन से निकलकर आया कि विद्युत-चुम्बकीय तरंग की गति लगभग 3 लाख कि.मी. प्रति सेकण्ड थी। विद्युत-चुम्बकीय तरंगों पर आगे और काम करते हुए 1907 में रोज़ा और डोरसी नाम के दो अमेरिकन भौतिकविदों ने अन्तरिक्ष में विद्युत-चुम्बकीय गुणों का अध्ययन किया। विद्युतीय और चुम्बकीय क्षेत्र के परिमाण में तुलना करने के बाद उन्होंने बताया कि प्रकाश की गति 2,99,788 कि.मी. प्रति सेकण्ड है, जो अभी की मान्य गति से केवल लगभग 0.000015% कम थी।

विद्युत-चुम्बकीय तरंगों की बिरादरी में दृश्य प्रकाश के साथ-साथ रेडियो तरंगें, माइक्रोवेव, इंफ्रारेड, अल्ट्रावॉयलेट तरंगें, एक्सरे आदि का भी अध्ययन किया गया। इनमें से कई विद्युत-चुम्बकीय तरंगों का उपयोग विज्ञान-तकनीकी के अलावा दैनिक जीवन में भी होने लगा था।

शुद्धतम वेग के एकदम करीब

बीसवीं शताब्दी में अनेक संवेदनशील और पहले के मुकाबले काफी दक्ष उपकरणों का इस्तेमाल हो रहा था। प्रकाश की गति के मान में परिमार्जन हो रहा था और अमेरिका का राष्ट्रीय मानक ब्यूरो प्रकाश की गति सम्बन्धी हर अध्ययन पर लगातार नज़र रखे हुआ था। 1950 तक प्रकाश के कई दृश्य और अदृश्य हिस्सों जैसे रेडियो, माइक्रोवेव, अवरक्त, एक्सरे, पराबैंगनी क्षेत्र आदि के अध्ययन किए जा रहे थे।

चित्र-3: *बोल्डर समूह - प्रकाश की वर्तमान मान्यता प्राप्त गति को नापने व निर्धारित करने का श्रेय बोल्डर समूह को है। एवानसन ने अपने 6 शोधकर्ताओं के साथ हीलियम नियोन लेज़र का इस्तेमाल करते हुए प्रकाश की गति को निर्धारित किया जो 299,792,458 कि.मी. प्रति सेकण्ड थी। फोटो में एवानसन सामने की कतार में बाईं तरफ हैं (चैकवाली पतलून पहने हुए)।*

इसी दौरान 1958 में ब्रिटिश वैज्ञानिक के.डी. फ्रूम ने 72 गीगा हर्ट्ज़ के एक माइक्रोवेव स्रोत की आवृत्ति और तरंग दैर्घ्य की गणना करके प्रकाश की गति मालूम करने की कोशिश की, जो लगभग 2,99,792.5 कि.मी. प्रति सेकण्ड थी जिसमें बहुत ही कम ± 0.1 मीटर प्रति सेकण्ड की त्रुटि थी।

इस प्रयास की अगली कड़ी में, 1960 में लेज़र (LASER) की मदद से प्रकाश की गति के शुद्धतम मान तक पहुँचने की कोशिश हुई। लेज़र सम्बन्धी काम करने वाले लोगों का समूह बोल्डर समूह के नाम से प्रसिद्ध था, क्योंकि ये लोग बोल्डर नगर में स्थित संयुक्त राज्य के एनबीएस (राष्ट्रीय मानक ब्यूरो) में काम करते थे। इस समूह के प्रमुख का नाम था एवानसन। अपने 6 शोधकर्ताओं के साथ एवानसन लेज़र और प्रकाश के दृश्य भाग की आवृत्तियों का अध्ययन

प्रकाश सेकण्ड, प्रकाश मिनट और प्रकाश वर्ष

जब प्रकाश की गति तय हो गई तो कई विशाल खगोलीय दूरियों को दर्शाने के लिए प्रकाश द्वारा सेकण्ड में, मिनटों में, घण्टों में, साल में तय की गई दूरी को इकाई बनाकर यह बताया जाने लगा कि अमुक पिण्ड धरती से इतने-इतने प्रकाश मिनट या प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित है। चलिए, कुछ ठोस उदाहरण लेते हैं।

जैसे धरती से चांद की दूरी को प्रकाश की इकाई में बताना हो तो कहेंगे चांद धरती से 1.25 'प्रकाश सेकेंड' दूर है। सूरज लगभग 8.33 'प्रकाश मिनट' की दूरी पर है। हमारे सौर मण्डल के एक दूरस्थ पिण्ड प्लूटो से आने वाले प्रकाश को धरती तक पहुँचने में लगभग 5.30 'प्रकाश घण्टे' लगते हैं। अब सौर मण्डल के बाहर के उदाहरण लेते हैं। लेकिन इससे पहले कुछ सामान्य गणनाएँ कर लेना ठीक रहेगा। जैसे एक दिन में 86,400 सेकण्ड होते हैं, तो एक साल में कितने सेकण्ड हुए (365.25 × 86,400 = 3,15,56,926 सेकण्ड)। धरती से किसी करीबी तारे को लेते हैं। प्रोक्सिमा सेंटोरी सूरज के बाद सबसे करीबी तारा है। इसकी दूरी प्रकाश की इकाई में बतानी हो तो 4.27 'प्रकाश वर्ष' है। दूसरे शब्दों में कहें तो 4 'प्रकाश वर्ष' और 99 'प्रकाश दिन'। रात के आसमान का एक और चमकदार तारा सिरिअस (Cirius, व्याध) 8.64 'प्रकाश वर्ष' की दूरी पर है। एक और तारा समूह ओरायन (मृगशीर्ष) का एक चमकदार तारा रीगेल धरती से 815 'प्रकाश वर्ष' की दूरी पर है। 815 'प्रकाश वर्ष' दूरी का मतलब है कि रीगल की जो रोशनी हम आज देख रहे हैं वो वहाँ से 815 साल पहले चली है। सोचिए, 815 साल पहले हिन्दुस्तान में क्या हो रहा था - कुतुबमीनार का निर्माण कार्य चल रहा था उन दिनों।

आज यदि सिरिअस तारा गायब हो जाए तो हमें इसकी जानकारी 8.64 वर्ष बाद ही मिल सकेगी। इसी तरह हम अपनी आकाशगंगा के केन्द्र से 25,000 'प्रकाश वर्ष' की दूरी पर हैं। खगोलीय दूरियाँ हैं ही इतनी विशाल कि इनके बारे में सोचते हुए अचम्भा होता है।

- विभिन्न स्रोतों से संकलित

कर रहे थे। इस दौरान उन्होंने हीलियम नियोन लेज़र का इस्तेमाल करते हुए 633 नैनो मीटर वाले प्रकाश का उपयोग करके प्रकाश की गति मालूम की जो 299,792,458 मीटर प्रति सेकण्ड थी, जिसे हम न्यूनतम त्रुटि वाला मान कह सकते हैं। फिलहाल, प्रकाश की गति के इसी मान को स्वीकार किया गया है। इस प्रयोग को दुनिया की कई नामी प्रयोगशालाओं में दोहराकर देखा गया। इनके द्वारा प्रकाशित शोधपत्रों को अनेक समीक्षकों ने पढ़कर अपनी टिप्पणियाँ भी दीं। तब जाकर वैश्विक स्तर पर ये माना गया कि अब तक प्रकाश की गति का शुद्धतम मान 299,792.458 कि.मी. प्रति सेकण्ड है।

अन्तर्राष्ट्रीय मापन मानक ब्यूरो द्वारा मीटर को परिभाषित करते हुए कहा गया कि मीटर मतलब वह दूरी है जो प्रकाश द्वारा 1 / 299,792,458 सेकण्ड में तय की जाती है। इससे यही झलकता है कि प्रकाश की गति को एक महत्वपूर्ण मानक स्थान दिया गया है।

***

इस तरह सत्रहवीं सदी में प्रकाश की गति को नापने की जो कोशिशें शुरू हुईं, वे धीरे-धीरे प्रकाश की गति के शुद्धतम मान को मालूम करने के जुनून में तब्दील हो गईं। प्रकाश की गति के साथ प्रकाश की प्रकृति को जानना भी एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरा। प्रकाश की प्रकृति को जानने के प्रयोगों की वजह से ईथर का तिलिस्म भी टूटा व गतिशील पिण्डों की गतियों को लेकर समझ भी बेहतर होती गई। ब्रह्माण्ड को देखने और समझने का एक नया नज़रिया मिला।

खैर, यहाँ तक आते-आते आपने यह तो जान लिया कि हमारे आसपास सबसे तेज़ गति प्रकाश की है। क्या आपके मन में यह सवाल नहीं जागा कि प्रकाश के बाद दूसरी पायदान पर कौन खड़ा है? यदि इसका जवाब जानते हैं तो *संदर्भ* पत्रिका को अपना जवाब लिख भेजिए।

अंजु दास मानिकपुरी: अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, रायपुर (छत्तीसगढ़) में विज्ञान शिक्षण सम्बन्धी काम कर रही हैं। इससे पहले वे इन्दौर में रसायन विज्ञान की सहायक प्रोफेसर थीं।

इस लेख के लिए आइज़ेक एसिमोव की पुस्तक *हाऊ डिड वी फाइंड आउट अबाउट द स्पीड ऑफ़ लाइट* का सन्दर्भ के रूप में एवं कुछ चित्रों के लिए इस्तेमाल किया गया।

लेख के सम्पादन एवं उसकी बारीकियों को सटीक रूप में प्रस्तुत करने में भास बापट का महत्वपूर्ण योगदान मिला।

एक स्कूल मैनेजर की डायरी

लेखक – फ़राह फ़ारूक़ी
ISBN: 978-93-87926-48-6
पेपरबैक; पेज – 356
मूल्य – ₹ 220/-

ई-बुक भी उपलब्ध ₹110/-

- *बच्चों और टीचर्स के आपसी रिश्ते का सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर क्या असर पड़ता है?*
- *स्कूल प्रशासन की ज़िम्मेदारियाँ और सत्ता की चुनौतियों के बीच क्या कोई सन्तुलन हो सकता है?*
- *बच्चों की तालीम पर सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ता है?*
- *स्कूल में धर्म, जाति, लिंग, क्षेत्र की बुनियाद पर बने नज़रियों का तालीम पर क्या असर होता है?*

स्कूल, समाज और राज्य के जटिल ताने-बाने में गुँथे ऐसे तमाम सवालों की संवेदनशील मगर बारीकी से पड़ताल करती है एक स्कूल मैनेजर की यह डायरी।

ऑर्डर करने के लिए सम्पर्क करें - +91 755 297 7770-71-72-73; books@eklavya.in

www.eklavya.in | www.pitarakart.in

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में कमलनयन चांदनीवाला के विज्ञान किट में योगदान को नहीं भुलाया जा सकेगा

कालू राम शर्मा

यह दुःखद है कि 15 मई 2020 को होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) का अहम हिस्सा रहे कमलनयन चांदनीवाला का निधन हो गया। चांदनीवालाजी एक सरकारी स्कूल के शिक्षक थे और होविशिका में उन्होंने एक पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में जुड़कर विभिन्न स्तरों पर किट व्यवस्था को बखूबी सम्भाला।

चांदनीवालाजी की होविशिका से जुड़ाव की कहानी 1982 में प्रारम्भ होती है। होशंगाबाद ज़िले से आगे

बढ़कर होविशिका को मालवा इलाके के उज्जैन व इंदौर सम्भाग में फैलाने की तैयारी चल रही थी। उस वक्त उज्जैन के पीजीबीटी कॉलेज में एक बैठक का आयोजन किया गया जिसमें चांदनीवालाजी ने एक आमंत्रित सदस्य के रूप में भाग लिया था। तब वे उज्जैन के एक सरकारी स्कूल में शिक्षक थे। इसके बाद मालवा अंचल में इस कार्यक्रम का फैलाव हुआ तो 1983 में गर्मियों की छुट्टियों के दौरान आयोजित शिक्षक प्रशिक्षण में आपने भाग लिया। उस दौरान उज्जैन में *एकलव्य* केन्द्र की स्थापना की जा रही थी, तब चांदनीवालाजी इस कार्यक्रम में पूर्णकालिक रूप से जुड़े।

चांदनीवालाजी ने होविशिका के साथ जुड़कर विद्यार्थियों के लिए माध्यमिक शालाओं को दी जाने वाली विज्ञान की प्रयोग सामग्री यानी किट उपलब्ध करवाने की व्यवस्था सम्भाली। एक तो प्रत्येक शाला में किट उपलब्ध करवाना ताकि बच्चे प्रयोग कर पाएँ और दूसरा शिक्षक प्रशिक्षणों में इसकी समूची व्यवस्था सम्भालना, जहाँ शिक्षकों का उन्मुखीकरण इस तरह से होता था कि वे बच्चों के साथ कक्षा में प्रयोग-आधारित विधि अपना सकें। इसके लिए उन शिक्षकों को भी प्रशिक्षण के दौरान उसी प्रक्रिया से गुज़रना होता था जैसे कि बच्चों से अपेक्षा होती है कि वे टोलियों में काम करें, प्रयोग करें, प्रयोग के दौरान अवलोकन करके आँकड़े एकत्र करें, परिभ्रमण पर जाएँ, वैसे ही इस पूरी प्रक्रिया से शिक्षक को भी गुज़ारा जाता। इसलिए शिक्षक प्रशिक्षण में शिक्षकों को बाल वैज्ञानिक के समस्त प्रयोग करने होते थे। इस सब के लिए प्रशिक्षण में किट व्यवस्था का खासा इन्तज़ाम किया जाता था।

शिक्षक से कार्यकर्ता का सफर

किशोर भारती व मित्र मण्डल केन्द्र रसूलिया के संयुक्त प्रयासों से चुनिन्दा सरकारी स्कूलों में प्रारम्भ किए गए होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में दिल्ली विश्वविद्यालय व मध्यप्रदेश के महाविद्यालयों के प्राध्यापकों का सक्रिय जुड़ाव रहा। यह जुड़ाव दो प्रकार का था। होविशिका में काम करने के लिए प्राध्यापकों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से फैलोशिप प्रदान की गई। इस फैलोशिप स्कीम के तहत बहुत सारे प्राध्यापकों ने कुछ साल तक इस कार्यक्रम में पूर्णकालिक रूप से योगदान दिया। प्राध्यापकों का ऐसा समूह भी था जिसने शिक्षक प्रशिक्षणों, मासिक बैठकों, पाठ्यपुस्तक लेखन, अनुवर्तन जैसे कार्यों में स्वैच्छिक रूप से सहयोग किया। इसी प्रकार स्कूली शिक्षकों का इस कार्यक्रम से जुड़ाव बनाने के लिए प्रतिनियुक्ति यानी डेप्युटेशन का प्रावधान किया गया। सरकारी स्कूल के उत्साही शिक्षक जो होविशिका से पूर्णकालिक जुड़ना

चाहते थे, वे मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग की ओर से इस कार्यक्रम में प्रतिनियुक्ति पर आ सकते थे।

1984 में चांदनीवालाजी इस कार्यक्रम के दौरान *एकलव्य* से जुड़े। यह वह समय था जब होविशिका को उज्जैन व इंदौर सम्भाग के प्रत्येक ज़िले में कुछ चुने गए संगम केन्द्र के स्कूलों में लागू किया जा रहा था। होविशिका को नए क्षेत्र में लागू करने का अर्थ इन शालाओं के शिक्षकों व अनुवर्तनकर्ताओं का प्रशिक्षण करना व उन स्कूलों में किट व्यवस्था को बनाना सबसे प्रमुख था। अगर शिक्षकों का प्रशिक्षण नहीं हो पाया तो वे इस विधि से पढ़ा नहीं पाएँगे। और अगर शिक्षकों का प्रशिक्षण कर दिया और स्कूलों में विज्ञान की प्रयोग सामग्री ही नहीं पहुँची तो शिक्षक विज्ञान शिक्षण नहीं कर पाएँगे। होविशिका की रीढ़ थी कक्षाओं में प्रयोग करके सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को गतिशील बनाना। इसलिए प्रयोग करने के लिए विज्ञान सामग्री समय पर उपलब्ध करवाना अत्यन्त ज़रूरी था।

करके सीखना – शिक्षण का एक महत्वपूर्ण आयाम

दरअसल, यह क्रान्तिकारी बदलाव था। एन.सी.ई.आर.टी. ने तो सत्तर के दशक में कह दिया था कि स्कूलों में विज्ञान को प्रयोगों के ज़रिए नहीं पढ़ाया जा सकता क्योंकि भारत जैसे देश में शालाओं को इतने संसाधन उपलब्ध करवाना सम्भव नहीं है। उल्लेखनीय है कि होविशिका में बच्चे टोलियों में विभाजित होकर प्रयोग करते थे। यह भारत की स्कूली शिक्षा के इतिहास में पहली बार था जब सामान्य शासकीय माध्यमिक शालाओं में बच्चों को प्रयोग करने के मौके मिल रहे थे। अगर बच्चों को प्रयोग करने के मौके देना है तो उन्हें प्रत्येक प्रयोग में लगने वाली प्रयोग सामग्री भी देनी होगी। और वो भी इस मात्रा में कि बच्चे टोलियों में ठीक-से प्रयोग कर सकें।

इसका अर्थ यह भी है कि अगर स्कूलों की कक्षाओं में बच्चे प्रयोग करें तो शिक्षकों को भी इस प्रकार से तैयार किया जाए कि उनमें प्रयोग करने का हुनर पैदा हो एवं वे प्रयोग की बारीकियों से वाकिफ हों। इसलिए होविशिका के शिक्षक प्रशिक्षण ने भाषण पद्धति व प्रदर्शन पद्धति को तिलांजली दे दी थी। प्रशिक्षण में भाग लेने वाले शिक्षकों को कक्षावार विज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त करना होता था। इस प्रशिक्षण में शिक्षकों को उस पूरी प्रक्रिया से गुज़रना होता था जिसमें प्रयोग करना, प्रयोग से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण करना, लम्बी अवधि के प्रयोग करना इत्यादि शामिल था। प्रशिक्षण के दौरान शिक्षक भी खुद टोलियों में बँटकर प्रयोग करते। शिक्षक प्रशिक्षणों में भी किट का इन्तज़ाम करना एक काफी ज़िम्मेदारी-पूर्ण एवं कठिन काम होता था।

होविशिका की किट का एक हिस्सा ऐसा था जिसका जुगाड़ स्थानीय स्तर पर करना होता था। कुछ चीज़ें ऐसी होतीं जो बच्चे अपने आसपास की दुनिया से जुगाड़ते। लेकिन कुछ चीज़ें जैसे सूक्ष्मदर्शी, तराजू, परखनली, उफननली, थर्मामीटर इत्यादि की व्यवस्था शासन के माध्यम से करनी होती थी। कुछ ऐसी चीज़ें भी थीं जिनका स्थानीय स्तर पर निर्माण करना होता जैसे अप्लावी (ओवरफ्लो) बर्तन, गणक, रबर, पत्थर, धातु के गुटके इत्यादि। यह किट सामग्री स्कूली शिक्षण के दौरान भी ज़रूरी होती और शिक्षक प्रशिक्षण में भी।

मुझे याद है, 1987 में नर्मदा सम्भाग व इंदौर-उज्जैन सम्भाग के शिक्षकों का प्रशिक्षण होशंगाबाद में आयोजित किया गया था। इस वृहद शिक्षक प्रशिक्षण में किट की व्यवस्था की जानी थी। इस प्रशिक्षण में चांदनीवालाजी किट व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा थे। शिक्षक प्रशिक्षण का दिनभर का समय-चक्र सुबह साढ़े सात बजे शुरू होता। सुबह साढ़े सात बजे के पहले कक्षाओं में स्रोत दल के सदस्य किट-कक्ष से किट का डिब्बा उठाकर प्रशिक्षण-कक्ष में ले जाते थे। इस किट के डिब्बे में उस दिन के लिए प्रस्तावित अध्याय के शिक्षण में लगने वाली सम्पूर्ण सामग्री होती। इस डिब्बे को एक दिन पहले ही किट टीम के सदस्य तैयार करके रख देते थे। दरअसल, स्रोत दल के सदस्यों को सम्बन्धित कक्षा के कम-से-कम एक दिन पहले किट-सूची तैयार करके किट-टीम को देनी होती थी। इतना ही नहीं, स्रोत दल के सदस्य एक दिन पहले तैयारी करके वक्त उन तमाम प्रयोगों को करके जाँचते भी थे। तो किट की व्यवस्था शिक्षक प्रशिक्षण में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं समय की पाबन्दी से चलने वाला अहम पहलू था। सोचिए, अगर सुबह साढ़े सात बजे प्रशिक्षण कक्ष में किट न हो तो स्रोत दल के सदस्य कुछ नहीं कर सकते। शिक्षक प्रयोग करके ही तो प्रमाणों पर चर्चा कर सकेंगे। इसलिए किट की व्यवस्था पर शिक्षक प्रशिक्षणों में खासा ध्यान दिया जाता था। चांदनीवालाजी और उनकी टीम के सदस्य हमेशा तैयार रहते थे। अक्सर ऐसा होता कि अगले दिन सुबह जो प्रयोग करवाना है, उसके बारे में अचानक कोई विचार स्रोत दल के सदस्यों के दिमाग में कौंधे और वे किट-कक्ष में जाकर प्रयोग करना चाहें, या किसी विशेष सामग्री की फरमाइश प्रस्तुत कर दें। इन सब स्थितियों में चांदनीवालाजी हमेशा तैयार एवं तत्पर रहते और स्रोत सदस्यों को ज़रूरी किट सामग्री उपलब्ध करवाते।

प्रत्येक शिक्षक प्रशिक्षण में एक हॉल या कमरा किट के लिए तय किया जाता जहाँ समस्त किट व्यवस्थित तौर पर जमा कर रखी

जाती। मुझे याद है, चांदनीवालाजी अपनी किट टीम के साथ किट-कक्ष में हमेशा जमे होते थे। अगले दिन की कक्षा के लिए किट की तैयारी के लिए किट टीम शाम से देर रात तक लगी रहती। अगले दिन सबसे पहले किट-कक्ष खुलता व प्रत्येक कक्षा की निर्धारित किट कक्षा में पहुँचाई जाती।

किट विकास से शाला तक का सफर

अगर आप यह समझ रहे हैं कि विज्ञान किट कुछ मँहगे व चमचमाते उपकरणों से युक्त होगी तो इसके ठीक उलट ही मामला था। होविशिका ने विज्ञान किट की इस छवि को एकदम ही पलट दिया था। किट ऐसी थी जो प्रयोग करने वाले शिक्षकों व बच्चों के लिए जानी-पहचानी हो। मतलब कि बच्चे व शिक्षक किट के साथ अन्तःक्रिया करने में संकोच न करें।

दरअसल, यह भी दिलकश है कि होविशिका की किट का काफी हिस्सा स्थानीय स्तर पर बनवाना होता था। मुझे याद है कि उज्जैन में चांदनीवालाजी और उनके अन्य साथी कई सारी चीज़ों का निर्माण स्थानीय स्तर पर करवाते थे। आयतन व चीज़ें क्यों तैरती हैं जैसे अध्यायों में लगने वाले अप्लावी बर्तन (ओवरफ्लो वेसल), गणक, रबर व पत्थर के गुटके इत्यादि का निर्माण स्थानीय स्तर पर करवाया जाता था जिसमें उन्हें खुद भी जुटना होता था। अप्लावी बर्तन पतरे का एक बेलनाकार डिब्बा होता था जो लोहार से थोक में बनवाया जाता। जब वे बनकर आते तो उन पर वॉर्निश की जाती। यह काम *एकलव्य,* उज्जैन के ऑफिस में किया जाता। गणक बनाने के लिए एक लकड़ी का पटिया और सायकिल की ताड़ियों की ज़रूरत होती। प्रयोगों में ऑलपिन, कील जैसी तमाम चीज़ों की ज़रूरत होती। इन सभी को थोक में खरीदा जाता और फिर अमुक स्कूल की अमुक कक्षा के छात्रों की संख्या के आधार पर किट पैक की जाती। सोचा जा सकता है कि यह काम कितने धैर्य और बारीकी का है। दरअसल, अलग-अलग ज़िलों के संगम केन्द्रों की स्कूलवार किट के बक्सों से *एकलव्य* का ऑफिस लबरेज़ होता।

तो एक स्तर पर किट की डिज़ाइन व व्यवस्था, और फिर अगले स्तर पर उस ज़िले में जाकर संगम केन्द्र स्तर पर किट का वितरण करना होता था। जब कार्यक्रम की शुरुआत हुई तो समस्त स्कूलों में किट स्कूल खुलने के पहले पहुँच जाए, यह प्रयास होता। प्रत्येक स्कूल में कितने बच्चे हैं और प्रत्येक कक्षा के कितने वर्ग हैं, इसे ध्यान में रखकर किट की गणना की जाती और तदनुसार किट स्कूलों तक पहुँचाई जाती। जीप में किट भरकर स्कूलों तक पहुँचाने के लिए चांदनीवालाजी सदैव तत्पर रहते।

जब बच्चे प्रयोग करेंगे तो कुछ सामग्री तो खर्च होगी व कुछ टूट-फूट जाएगी या गुम होगी। इसके लिए प्रत्येक वर्ष किट की क्षतिपूर्ति का प्रावधान था। मैंने अनुभव किया कि स्कूलों में किट पहुँचाना अपने आप में एक जटिल व नियोजन की माँग रखने वाला व एक बड़े भौगोलिक क्षेत्रफल में फैला हुआ कार्य था। इस काम को काफी अहमियत के साथ किया जाता। चांदनीवालाजी के होविशिका में किट के निर्माण एवं वितरण की व्यवस्था में योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। किसी भी काम में पर्दे के पीछे संलग्न लोगों का योगदान अहम होता है। चांदनीवालाजी उनमें से एक थे जिन्होंने विज्ञान शिक्षण में किट की व्यवस्था को बखूबी अंजाम दिया। चांदनीवालाजी हमारे बीच मिसाल प्रस्तुत करते हैं कि शिक्षा जगत में ऐसे शिक्षक हैं जो शान्त ढंग से एवं मौनभाव से अपने काम को शिद्दत से करने की चाहत रखते हैं। चांदनीवालाजी एक हरफनमौला किस्म के मज़ाकिया इन्सान थे। उन्हें सभी साथी 'किट्टाचार्य' कहते थे। उनके कई किस्से हैं जो होविशिका समूह के साथियों के बीच चर्चा का विषय बनते रहे हैं। मेरा मानना है कि होविशिका से जुड़े उस दौर में जिनका चांदनीवालाजी के साथ जुड़ाव रहा होगा, वे जब इस लेख के ज़रिए उन्हें याद करेंगे तो बहुत-से अनकहे किस्से उनकी आँखों के सामने जीवन्त हो उठेंगे।

कालू राम शर्मा: अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, खरगोन में कार्यरत। स्कूली शिक्षा पर निरन्तर लेखन। फोटोग्राफी में दिलचस्पी। *एकलव्य* के शुरुआती दौर में धार एवं उज्जैन के केन्द्रों को स्थापित करने एवं मालवा में विज्ञान शिक्षण को फैलाने में अहम भूमिका निभाई।

फोटो: कालू राम शर्मा।

एक दिन मन्ना डे

कुमार अंबुज

छियासी बरस के मन्ना डे उस दिन शहर में आए थे। जीवनकाल में ही अमर हो चुके अपने अनेक गीतों को गाने के लिए। कार्यक्रम का ज़्यादा प्रचार नहीं हुआ लेकिन धीरे-धीरे खबर फैलती गई कि मन्ना डे शहर में आज गाना गाएँगे। आमंत्रण पत्र से प्रवेश था। फिर भी रवीन्द्र भवन पूरा भर चुका था। सीढ़ियों पर, गैलरी में, रास्ते में लोग

बैठे हुए थे या खड़े थे। सब उम्मीद कर रहे थे कि मन्ना डे इस उमर में भी कम-से-कम चार-छः गीत तो गाएँगे ही। लेकिन उन्होंने लगभग ढाई घण्टे तक गाया और पच्चीस-तीस गीत गाए। सब लोगों ने नॉस्टेल्जिक अनुभूतियों के साथ, खुशी जताते हुए, तालियाँ बजाते हुए उन्हें सुना। मुझे भी बड़ा सुख मिला। मन्ना डे जैसे बड़े पार्श्व गायक को सीधे सुनने का आनन्द और सन्तोष हुआ।

रात नौ बजे कार्यक्रम समाप्त हुआ, भीड़ के साथ सीढ़ियाँ उतरते हुए मुझे 'प्रसाधन' लिखा देखकर ख्याल आया कि इस बीच फारिग हो लूँ। भीड़ भी छँट जाएगी और तब आराम-से घर जा सकूँगा। मैं जाकर खड़ा हुआ ही था कि बगल में एक आदमी कुछ निढाल-सा, थके कदमों से आया और पेशाब करने लगा। मैंने उसकी तरफ देखा, वह रुआँसा हो रहा था। निगाह मिलने पर वह कुछ सकपका गया और नज़र चुराने लगा। मैंने पूछा, "आपको कैसे लगे मन्ना डे? उनकी आवाज़ से लगता नहीं है न कि वे छियासी साल के हैं?"

यकायक वह आदमी रोने लगा। मैं घबरा गया। मुझे लगा कि शायद मैंने कुछ गलत बात कह दी। वह एक बाँह से आँसू पोंछने लगा। मैंने सोचा कि उसे ढाढ़स बँधाना चाहिए। ज़िप खींचकर मैं एक तरफ खड़ा हो गया कि जब यह इधर आए तो इससे सांत्वना के कुछ शब्द कहूँ। मैं खुद को कहीं-न-कहीं अपराधी समझ रहा था। वह जैसे ही पलटा, मैंने कहा, "माफ करें, शायद मैंने कुछ ऐसी बात पूछ ली जो आपको अच्छी नहीं लगी।"

"नहीं भाई, आपकी बात से कुछ नहीं हुआ। मुझे तो पहले से ही रोना आ रहा था।" उसने भर्राई आवाज़ में कहा।

मुझे आश्वस्ति हुई कि चलो, मेरी वजह से इसे कुछ नहीं हुआ।

"जैसे ही आपने कहा कि लगता नहीं वे छियासी के हैं, मैं अपने आँसू रोक नहीं पाया।"

"इसमें ऐसा क्या कह दिया मैंने?"

"अब क्या बताऊँ आपको! इस उमर में, बुलन्द आवाज़ में, पूरे पक्के सुरों में उनके गाने सुनते हुए दरअसल, मुझे यह ख्याल सताने लगा कि एक दिन मन्ना डे.....।" वह कुछ कहते-कहते रुक गया।

"एक दिन मन्ना डे, क्या? क्या मतलब?"

"अरे भाई, मुझे अचानक यह ख्याल आया कि एक दिन मन्ना डे इस दुनिया में नहीं रहेंगे। तबसे यह कुविचार मेरा पीछा कर रहा है। मैं इससे पीछा नहीं छुड़ा पा रहा हूँ।"

मुझे समझ नहीं आया कि इस भले आदमी से आखिर क्या कहूँ। इसकी बात पर हँस दूँ, इसे समझाऊँ या टाल कर चल दूँ। उस आदमी की मुद्रा गम्भीर थी। वह किसी गहरी तकलीफ में दिख रहा था। मैंने विषयान्तर करने के लिए, एक तरह से उसका ध्यान बाँटने के लिए कहा, "चलिए, नीचे चलते हैं, रेस्टोरेंट में चाय पीते हैं। आपके पैन्ट की ज़िप खुली है।" आखिरी वाक्य मैंने इस तरह कहा कि उसे बुरा न लगे। उसने अनमने मन से ज़िप खींची और बोला, "ठीक है, आप भी चाय पीना चाहते हैं तो चलिए।"

हम रेस्टोरेंट के एक शान्त कोने की टेबुल की तरफ गए। वह अभी तक संयत नहीं हुआ था।

"देखिए, आप यह मत समझिए कि मन्ना डे के लिए मैं ऐसा सोच रहा हूँ। बल्कि यह सोचना मुझ पर कितना भारी पड़ रहा है, मैं ही जानता हूँ।"

"अब कुछ तो मैं भी जानता हूँ।" मैंने मुस्कुराते हुए कहा। लेकिन उस पर इस परिहास का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

"लगता है आप इस बात पर भावुक हो गए हैं, कुछ हद तक डिप्रेशन में आ गए हैं," कहते हुए मैंने सोचा कि शायद सहानुभूति से ही इस आदमी को उबारा जा सकता है।

घटनाक्रम ऐसा बनता गया कि मुझे इस अतिनाटकीयता में रुचि हो गई या कहूँ कि एक तरह से मैं फँस गया। और अब मैं घर जाने की बजाय यहाँ इस आदमी के साथ, जिसका नाम तक नहीं जानता, दो चाय का ऑर्डर देने के बाद बैठा हुआ था। मेरा कमरा पास में ही, पाँच मिनट की पैदल दूरी पर था। वह अभी भी गम्भीर और उदास था। इस स्थिति में किसी औपचारिक परिचय के लेन-देन की गुंजाइश नहीं निकल रही थी।

"जब उन्होंने गाया 'फुलगेंदवा न मारो', मैं मारे खुशी के झूम उठा। क्या तान थी, क्या उठान और इतनी गहरी, साफ-सुथरी आवाज़ कि कभी रेडियो या कैसिट पर न सुनी थी। इतनी उमर के बावजूद एक भी सुर गलत नहीं लगाया। और भाई, इसी दौरान मुझे यह दुष्ट ख्याल आ गया कि एक दिन मन्ना डे नहीं रहेंगे। इतना नायाब गायक हमारे बीच नहीं रहेगा, यह आवाज़, यह गायकी नहीं रहेगी। इसकी वजह से मेरी यह खुशी गायब हो गई है कि मैंने मन्ना डे को सुना।" उसने धीरे-धीरे, भरे हुए गले से कहा।

"यह तो होगा ही। एक दिन हम सब नहीं रहेंगे। पहले भी महान कलाकार हुए हैं और आखिर उनकी भी उमर पूरी हुई। यह कितनी खुशी की बात है कि मन्ना डे आज और अभी हमारे बीच हैं। दुआ है कि वे शतायु हों।" मैंने टेबुल पर रखे उसके हाथ को छूकर कहा। सोचा कि स्पर्श उसे राहत दे सकेगा।

वह खामोश रहा।

"एक बार मैंने भी कुमार गंधर्व को सुनते हुए और बचपन में मुकेश का कोई गाना सुनते हुए सोचा था कि काश, ये लोग कभी न मरें। यह ख्याल जीवन में अपने प्रिय कलाकार को लेकर कभी-न-कभी सबके मन में आता ही है। लेकिन इसे लेकर इतना व्यथित होने की कोई बात नहीं है।" मैंने उसे इस तरह भी दिलासा देने का प्रयास किया।

"मैं जानता हूँ। मगर अभी कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। मैं तो उनके गाने के बीच में उठकर, चीखकर कहनेवाला था कि मन्ना, अब मत गाओ, नज़र लग जाएगी। मगर मन का लोभ तो यही था कि वे गाते जाएँ, बस, गाते जाएँ। और उसी बीच यह विचार जड़ जमाता चला गया कि चार साल बाद मन्ना डे नब्बे के हो जाएँगे। और आखिर एक दिन, सात साल बाद या दस साल बाद।" उसने खुद को रोने से रोका। इस

तरह कि पास खड़े वेटर का ध्यान भी हमारी तरफ आकर्षित हो गया। मैंने वेटर को हाथ के इशारे से जताया कि कोई ऐसी-वैसी बात नहीं, दोस्तों के बीच की ही कोई छोटी-मोटी बात है।

मैंने सोचा कि कहीं इस आदमी ने ज़्यादा शराब तो नहीं पी ली है। और इस वजह से ही यह अति भावुकता का शिकार हो गया है! तब तो इसे समझाना, इसके साथ वक्त ज़ाया करना बेकार है। मैं भी किस प्रपंच में पड़ गया। आखिर मैंने पूछ ही लिया, "क्या आपने आज कुछ अल्कोहल लिया है?" वह टेबुल पर दोहरा होते हुए मेरे पास अपना मुँह ले आया और गहरी साँस चेहरे पर छोड़ते हुए बोला, "लो, सूँघ लो। मैंने पिछले दस बरस से शराब नहीं पी।"

मुझे पसीने की और उसके मुँह की मिली-जुली तीखी, खट्टी गन्ध का एहसास हुआ।

"सॉरी! मुझे इस तरह नहीं पूछना चाहिए था। लेकिन आपको इतना सेण्टीमेंटल देखकर लगा कि...।"

"कोई बात नहीं। मुझे भी अपना मुँह आपके मुँह पर इस तरह नहीं लाना था लेकिन आपकी बात पर मुझे कुछ गुस्सा आ गया। हालाँकि, मैं समझ सकता हूँ कि आप भले आदमी हैं और मन्ना डे को प्यार करते हैं। वरना मेरे रोने से, मेरे दुख से आप क्यों अपना रिश्ता जोड़ते!"

"आप इस तरह से किसलिए दुखी हो रहे हैं? मन्ना डे की आवाज़, उनके गाए गीत धरोहर के रूप में हमारे पास, हमारी यादों में हमेशा रहेंगे। अब तो सी.डी., डी.वी.डी. वगैरह जैसी चीज़ें भी हैं और कितनी म्यूज़िक कम्पनियाँ हैं जो मन्ना डे को ही नहीं बल्कि तमाम महान गायकों को हमारे लिए, आनेवाले लोगों के लिए बचाकर रखेंगी।"

"खाक बचाकर रखेंगी। ज़रा खोजकर देखें। पुराने गीत ढूँढ़ने में पसीने आ जाते हैं। और मेरी चिन्ता तो यह भी है कि डेढ़ सौ साल बाद, दो सौ साल बाद मन्ना डे की आवाज़ कैसे सुन पाएँगे।"

मुझे हँसी आ गई।

"अरे भाई, तीस-चालीस साल बाद तो हम दोनों ही नहीं रहेंगे, डेढ़ सौ-दो सौ साल बाद की परवाह आप क्यों कर रहे हैं!"

"आप नहीं समझ सकते। मुझे लग रहा था कि शायद आप कुछ समझेंगे। कोई नहीं समझ सकता। ओह! मैं मन्ना डे को सुनने आया ही क्यों। इस तरह उन्हें साक्षात् सुनना, जिसे यहाँ सुनकर लगा कि कोई कम्पनी आज तक उनकी आवाज़ ठीक-से दर्ज ही नहीं कर पाई, उस आवाज़ को सुनना! मैंने यह खुला खज़ाना देखा ही क्यों? काश! कोई मुझसे कह दे कि मन्ना डे हमारे बीच इसी तरह बने रहेंगे, इसी आवाज़ के साथ।" वह फिर बहक गया।

शायद उसे नर्वस ब्रेकडाउन जैसा कुछ हो गया था। मैं चुप रहा।

कुछ देर बाद उसने धीरे-से अपनी आँखों को मला। वेटर ने चाय सर्व कर दी। संक्षिप्त शान्ति में हम चाय पीते रहे। चाय जैसे ही खतम हुई, वेटर बिल रख गया। उसने तुरन्त बिल अपने कब्ज़े में लिया।

"बिल इधर दीजिए। पैसे मैं दूँगा, चाय पीने का प्रस्ताव मेरा था।" मैंने कहा।

"नहीं, पैसे मैं ही दूँगा। वरना बाद में मुझे ऐसा लगेगा कि मैं कुछ नर्वस था, दुख में था, इसलिए सहानुभूति में आपने मुझे चाय पिला दी। यह ख्याल मुझे फिर परेशान करेगा।"

अजीब तर्क था। उसने पन्द्रह रुपए दिए। बारह चाय के और तीन टिप मानकर।

हम बाहर निकल आए। उसने बताया कि पेड़ के नीचे, उधर अँधेरे कोने में उसका स्कूटर खड़ा है। "अब आपको ठीक लग रहा है न?" मैंने पूछा।

"हाँ। मैं शायद ज़्यादा ही भावुक हूँ। मगर सच मानिए, ज़रूरत पड़ने पर मन्ना डे को मैं अपना खून, अपनी किडनी, अपना लिवर तक दे सकता हूँ। लेकिन मन्ना डे को यह बात मालूम होनी चाहिए ताकि वक्त-ज़रूरत आने पर वे किसी तरह का संकोच न करें। पता भर लग जाए। मुझे लगता है कि मैं मर जाऊँ, बल्कि हममें से बहुत-से लोग मर जाएँ और मन्ना डे बच जाएँ तो सब ठीक हो जाएगा।" वह बाढ़ के पानी में लकड़ी के पटिये की तरह बहने लगा।

"हाँ, मन्ना डे के लिए तो कोई भी, कुछ भी कर सकता है।" मैंने उसे शान्त करने की नीयत से कहा।

"आप भी कैसी बात करते हैं! इतने गायक, इतने कलाकार भूख से, गरीबी से, बीमारी से, उपेक्षा से मर गए, किसी ने कुछ किया? मैंने तक नहीं किया। वक्त आने पर आदमी अपने माँ-बाप तक के लिए कुछ नहीं करता। कलाकार, वैज्ञानिक बन्द कमरों में सड़ जाते हैं, पागल हो जाते हैं, आत्महत्या कर लेते हैं या जानलेवा बीमारियों से मर जाते हैं। क्या आप नहीं जानते? मन्ना डे के लिए ही अभी कौन क्या कर रहा है? लेकिन अब उनके लिए मैं कुछ भी, सच में कुछ भी करना चाहता हूँ।"

वह फिर किसी गहरी घाटी में उतर गया।

जानबूझकर मैं चुप रहा कि बात बढ़ाने से इस आदमी का मानसिक उत्ताप बढ़ता ही जाएगा। स्कूटर के पास जाकर वह अचानक पलटा और करीब आकर, कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "आपको क्या लगता है, आयोजकों ने मन्ना जी को दो-तीन लाख रुपए भी दिए होंगे?"

"नहीं, मुझे इसका अन्दाज़ा नहीं।"

मैंने कुछ घबराहट में और कुछ उसे दूर हटाने के भाव से जवाब दिया।

"मैं जानता हूँ, नहीं दिए होंगे। जबकि हर फालतू जगह पैसा पानी की तरह बहाया जाता है। खैर, मन्ना डे को इससे क्या फर्क पड़ता है! मेरी तो बस एक ही तमन्ना है कि मन्ना डे को कभी कुछ न हो!"

"ज़रूर। ऐसा ही होगा। आपकी दुआ काम आएगी।"

"लेकिन मैं जानता हूँ। आप भी जानते हैं कि एक दिन मन्ना डे....। ओफ्फो! यह ख्याल मेरी जान लेकर ही मानेगा।" निराशा में उसने अपनी उँगलियों को चटकाया।

"अरे भाई, आपका नाम क्या है? आप क्या करते हैं? कहाँ रहते हैं?" मैंने एक साथ सवाल पूछे ताकि परिचय भी हो जाए और उसका ध्यान भी इस बात से हट जाए, जिस पर वह बार-बार अटक जाता है।

"आपकी गाड़ी कहाँ है?" बदले में उसने पूछा। मैंने बताया कि यहीं पास में रहता हूँ, पैदल आया हूँ, पैदल जाऊँगा।

"नहीं, मैं आपको छोड़ूँगा।" इस पर मैंने आग्रहपूर्वक समझाया कि दरअसल, मेरा कमरा एकदम करीब है, यह सामने कॉलोनी में। पैदल लायक ही दूरी है।"

तब उसने स्कूटर स्टार्ट किया और बोला, "आप मुझे इसी रूप में जानें कि मैंने एक दिन मन्ना डे को सुना। मेरी यही पहचान काफी है। और देखो, अब मैं मुस्कुरा सकता हूँ।"

उसके लहराते स्कूटर को दो पल मैं देखता रहा। मैंने सोचा, अजीब पागल आदमी से पाला पड़ा था। उससे छूटकर मुझे एक तरह की राहत भरी खुशी का अनुभव हुआ।

कमरे का ताला खोलकर भीतर घुसते हुए मैं मन्ना डे के गानों की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगा। मन्ना डे की आवाज़ और गीतों का जादू तो मुझ पर भी था। इस घटनाक्रम के बाद अब मैं इस बेहतरीन, मन्ना डे की आवाज़ से भरी शाम की स्मृति में अपनी तरह से वापस जाना चाहता था। बेसिन पर हाथ धोकर मैंने टिफिन उठाया। टिफिन खोलने के पहले अलमारी में से खोजकर मन्ना डे के गानों की कैसिट निकाली, उसे 'टू इन वन' पर लगाया। फिर टिफिन खोलकर खाना खाने बैठ गया। 'हँसने की चाह ने, कितना मुझे रुलाया है.....।'

मन्ना डे की आवाज़ गूँजती रही।

अचानक ही मुझे रुलाई आ गई। मैंने खुद को बहुत रोका। मगर बेकार। मुझसे फिर खाना भी नहीं खाया गया।

मैं वहीं बिस्तर पर लेट गया। बत्ती बुझा दी।

मुझे रह-रहकर वह आदमी याद आने लगा और उसका वह ख्याल कि एक दिन मन्ना डे.....। मैंने उस रात में पहली बार, उस ख्याल की मारक बेचैनी को महसूस किया।

रो लेना भी एक दवा है। स्वस्थ आदमी ही इस तरह रो सकता है। कमरे के अँधेरे में इस तरह सोचते हुए, मैंने खुद को सांत्वना देने की असफल-सी कोशिश की।

कुमार अंबुज: हिन्दी के प्रख्यात कवि एवं कहानीकार। भोपाल में रहते हैं।

सभी चित्र: लोकेश खोड़के: इलस्ट्रेटर, कॉमिक बुक मेकर और फ्रीलान्स आर्टिस्ट हैं। आप BlueJackal कलेक्टिव के संस्थापक सदस्यों में से एक हैं। दिल्ली में रहते हैं।

सवालीराम

सवाल: पानी के बिना जीवित क्यों नहीं रह सकते हैं?

-शासकीय आश्रमशाला बिजुधावड़ी, धारणी, महाराष्ट्र

जवाब: हमारा शरीर 60-75 प्रतिशत तो पानी से बना है। जैसे ही शरीर में पानी की 1 प्रतिशत कमी होती है, आपको प्यास लगने लगती है। यदि पानी की क्षति 4-5 प्रतिशत हो जाए तो निर्जलन की स्थिति शुरू हो जाती है, प्यास बढ़ने लगती है और शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण कमज़ोर पड़ने लगता है। और यदि पानी की क्षति 10 प्रतिशत हो जाए, तो समझो टाँय-टाँय फिस्स। तो सवाल उठता है कि क्यों बिन पानी सब सून...पानी में ऐसा क्या है या शरीर की ऐसी कौन-सी ज़रूरत पानी पूरी करता है कि हम उसके बिना जीवित नहीं रह सकते?

पानी की संरचना और महत्व

धरती पर जीवन पूरी तरह पानी पर आश्रित है। और हो सकता है कि ब्रह्माण्ड में कहीं भी जीवन के अस्तित्व के लिए पानी अपरिहार्य हो। इस कथन को समझने के लिए पहले पानी की आणविक संरचना की कुछ बुनियादी बातें समझ लेते हैं।

वैसे तो पानी का अणु मात्र तीन परमाणुओं (दो हाइड्रोजन और एक ऑक्सीजन) से बना है लेकिन इसकी अनोखी संरचना इसे असाधारण गुण प्रदान करती है। पानी एक अत्यन्त असममित अणु है। इसका O परमाणु दो H परमाणुओं से जुड़ा होता है। ये दोनों आबन्ध एक सरल रेखा में नहीं होते। और तो और, दोनों O-H आबन्ध ध्रुवीकृत होते हैं (अर्थात् इनमें आवेशों का वितरण एक समान नहीं होता)। इस ध्रुवीयता की वजह से पानी के अणु के तीनों परमाणु हाइड्रोजन आबन्ध नामक विशेष किस्म के बन्धन बना सकते हैं। पानी की जीवनदायी प्रकृति इन्हीं गुणधर्मों पर टिकी है।

जब हाइड्रोजन का परमाणु ऑक्सीजन से बन्धन बनाता है तो

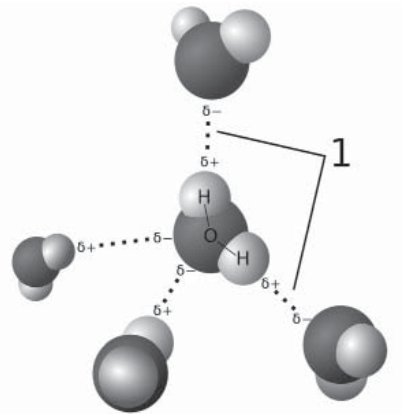

चित्र-1: *पानी के अणुओं के बीच हाइड्रोजन बॉण्ड (1) का मॉडल।*

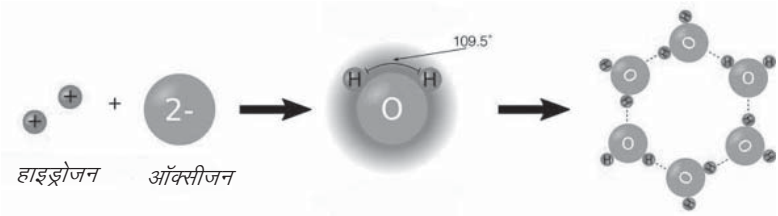

चित्र-2: पानी के अणु दो हाइड्रोजन और एक ऑक्सीजन से बने होते हैं। ये परमाणु विभिन्न आकारों और आवेशों के होते हैं, जो आणविक संरचना में विषमता पैदा करते हैं और पानी और अन्य ध्रुवीय अणुओं के बीच मज़बूत बन्धन की ओर ले जाते हैं जिसमें पानी भी शामिल है।

इसके एक सिरे पर धनात्मक तथा दूसरे सिरे पर ऋणात्मक आवेश पैदा हो जाता है - O वाले सिरे पर ऋणात्मक और H वाले सिरे पर धनात्मक। आवेशों में इस अन्तर को ध्रुवीयता कहते हैं और यही इस बात का निर्धारण करता है कि पानी का अणु अन्य अणुओं के साथ कैसे अन्तर्क्रिया करेगा।

इसी ध्रुवीयता की वजह से पानी के अणु एक-दूसरे के साथ हाइड्रोजन बन्धन बनाते हैं। इन हाइड्रोजन बन्धनों के कारण पानी के अणुओं में एक-दूसरे से चिपकने की अत्यधिक क्षमता होती है। यह गुण पानी के ऊष्मीय गुणधर्मों में साफ झलकता है। जब पानी को गर्म किया जाता है तो अधिकांश ऊष्मीय ऊर्जा हाइड्रोजन बन्धनों को तोड़ने में खर्च हो जाती है। स्तनधारी पसीना छोड़ते हुए इसी गुणधर्म का फायदा उठाते हैं। पानी को वाष्पित करने के लिए ज़रूरी ऊर्जा का कुछ हिस्सा शरीर से सोखा जाता है जिसकी वजह से शरीर ठण्डा रहता है। यह शरीर के तापमान के नियमन का एक तरीका है।

पानी दबाव के संकीर्ण परास में ही तीनों अवस्थाओं में रह सकता है। यह गुण जीवन के फलने-फूलने के अवसर प्रदान करता है। लेकिन देखा

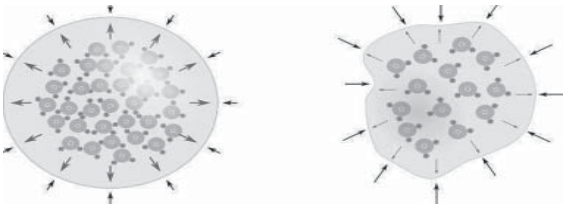

चित्र-3: पानी कोशिका के आकार को प्रभावित करता है। पानी कोशिका के अन्दर दबाव बनाता है जो आकार बनाए रखने में मददगार होता है। हाइड्रेटेड सेल (बाएँ) में, पानी कोशिका को बाहर की ओर धकेलता है जिससे सेल एक गोल आकार बनाए रखता है। निर्जलित कोशिका में, बाहर की ओर धकेलने वाला पानी कम होता है, जिससे कोशिका झुर्रीदार हो जाती है।

जाए तो जीवन को सम्भव बनाने के लिए जिस नज़ाकत भरे रासायनिक माहौल की ज़रूरत होती है, वह तो सिर्फ तरल पानी ही उपलब्ध करा सकता है। तरल पानी एक सार्वभौमिक विलायक है और जैसा कि हमने ऊपर देखा, इसकी आणविक संरचना किसी भी अन्य तरल से अलग है।

चलिए, अब यह समझने की कोशिश करते हैं कि पानी सार्वभौमिक विलायक कैसे है। कोशिका के अन्दर जलीय विलयन की थोड़ी-सी मात्रा होती है जिसमें घुलित पदार्थों का एक जटिल सम्मिश्रण होता है। एक विलायक के रूप में पानी कोशिका को ऑक्सीजन या पोषक तत्वों जैसे इन पदार्थों को अन्दर-बाहर करने तथा उपयोग करने में मदद करता है। रक्त में जल-आधारित विलयन अणुओं को उनके उपयुक्त स्थानों तक पहुँचाता है। वास्तव में, पानी किसी भी अन्य विलायक की अपेक्षा ज़्यादा पदार्थों को घोल सकता है।

लेकिन यह सिर्फ एक विलायक नहीं है। यह जैविक अणुओं की संरचनाओं का निर्धारण करता है और यह भी निर्धारित करता है कि वे किस तरह की अन्तर्क्रियाओं में भाग लेंगे। पानी वह तरल मैट्रिक्स है जिसके आसपास कोशिका का अविलेय वस्त्र बुना होता है। यह एक माध्यम भी है जिसके ज़रिए पदार्थ कोशिका के एक प्रकोष्ठ से दूसरे में प्रवाहित होते हैं। कई रासायनिक क्रियाओं में तो पानी एक अभिकारक भी होता है और कोशिकाओं की रक्षा भी करता है, जैसे अत्यधिक गर्मी या क्षतिकारक विकिरण से।

पानी कोशिका में इतना महत्वपूर्ण कारक है क्योंकि यह विभिन्न रासायनिक समूहों के साथ दुर्बल अन्तर्क्रियाएँ विकसित कर लेता है। यह विशाल अणुओं की संरचना के रख-रखाव तथा कार्य निष्पादन में प्रमुख भूमिका निभाता है और कोशिका झिल्ली जैसी जटिल रचनाओं की रक्षा करता है। पानी की वजह से ही कोशिका के अन्दर हर चीज़ आणविक स्तर पर सही आकार में बनी रहती है। चूँकि, अणु का आकार जैव-रासायनिक क्रियाओं में निर्णायक भूमिका निभाता है, इसलिए यह पानी की एक प्रमुख भूमिका है। उदाहरण के लिए, कोशिकाओं के कार्यकारी अणु प्रोटीन्स की उपयुक्त आकृति को बनाए रखने के लिए पानी ज़रूरी है। प्रोटीन अमीनो अम्ल नामक इकाइयों की लम्बी शृंखलाएँ होते हैं और इनके कामकाज के लिए ज़रूरी होता है कि ये सही ढंग से तह हो जाएँ।

अनिवार्य प्रक्रियाओं में पानी

कोशिका में महत्वपूर्ण घटकों के निर्माण और विघटन करने वाली कई रासायनिक अभिक्रियाओं में पानी सीधे-सीधे शामिल होता है। यह प्रकाश संश्लेषण तथा श्वसन की

बुनियाद है। प्रकाश संश्लेषी कोशिकाएँ सूर्य के प्रकाश की ऊर्जा का उपयोग करके पानी के हाइड्रोजन व ऑक्सीजन को अलग-अलग कर देती हैं। हाइड्रोजन को (हवा से प्राप्त की गई) कार्बन डाईऑक्साइड के साथ जोड़कर ग्लूकोज़ का निर्माण होता है और ऑक्सीजन मुक्त होती है। सारी जीवित कोशिकाएँ ऐसे ईन्धनों का उपयोग करके हाइड्रोजन तथा कार्बन का ऑक्सीकरण करती हैं और इस प्रक्रिया (कोशिकीय श्वसन) में पानी व कार्बन डाईऑक्साइड का पुनर्निर्माण हो जाता है। अम्ल-क्षार उदासीनीकरण तथा एंज़ाइम्स के कार्य में भी पानी की प्रमुख भूमिका होती है।

अन्य ग्रहों पर पानी की उपस्थिति

तो, हमने देखा कि तरल रूप में पानी जीवन की प्रमुख शर्त है। पृथ्वी पर भरपूर मात्रा में तरल पानी मौजूद है – यह पृथ्वी की 71 प्रतिशत सतह पर फैला है। अध्ययनों से पता चला है कि सम्भवत: मंगल पर भी थोड़ी मात्रा में तरल पानी पाया जाता है। कई शोधकर्ता मानते हैं कि शनि के चन्द्रमाओं पर तरल अवस्था में पानी उपस्थित है – एन्सिलेडस पर कुछ कि.मी. मोटी परत के रूप में जबकि टाइटन पर भूमिगत रूप में, शायद अमोनिया के साथ मिश्रण के रूप में। बृहस्पति के चन्द्रमा युरोपा की सतह की संरचना को देखकर लगता है कि यहाँ ज़मीन के नीचे तरल पानी का समुद्र है। इसी प्रकार से, बृहस्पति के एक अन्य चन्द्रमा गैनीमीड पर भी उच्च दाब पर बर्फ और चट्टानों के बीच तरल पानी है।

टार्डिग्रेड्स: एक अपवाद

टार्डिग्रेड्स ऐसे जन्तु हैं जिन्हें इन्तहापसन्द कहते हैं। ये जीव ऐसे पर्यावरण में जी पाते हैं जहाँ अन्य जीव टें बोल देते हैं। मसलन, टार्डिग्रेड्स 30 साल तक बगैर पानी या भोजन के जीवित रह सकते हैं। ये परम शून्य जैसी ठण्ड और उबलते पानी जैसी गर्मी में ज़िन्दा रहते हैं। और तो और, ये समुद्र की अतल गहराइयों में पाए जाने वाले दबाव से छ: गुना अधिक दबाव तथा अन्तरिक्ष के निर्वात में जीवित रह सकते हैं। ये इन सबसे कैसे निपटते हैं, इसके लिए कहा जाता है कि ये 'टुन्न अवस्था' में चले जाते हैं – ये सूक्ष्मजीव सारा पानी अपने शरीर से बाहर फेंक देते हैं और अपने सिर व टाँगों को

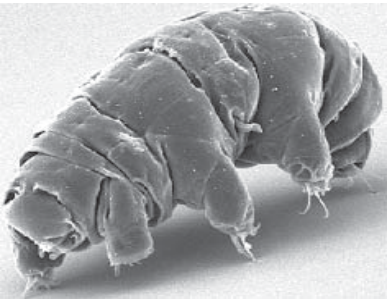

चित्र-4: *टार्डिग्रेड्स*

अन्दर समेटकर गेंद की शक्ल अख्तियार कर लेते हैं और अन्ततः सुप्त अवस्था में चले जाते हैं। जब हालात सुधरते हैं तो ये शरीर को फिर से खोल लेते हैं और रोज़मर्रा की तरह काम करने लगते हैं।

टार्डिग्रेड्स यह समझने में हमारी मदद कर सकते हैं कि पानी के बगैर कैसे जीवित रहें। अध्ययनों से पता चला है कि टार्डिग्रेड्स की दो प्रजातियाँ कोशिका में पानी की अनुपस्थिति में भी कोशिका की संरचना (डीएनए समेत) को संरक्षित रख सकती हैं। इन अध्ययनों का महत्व चिकित्सा तथा बायोटेक्नॉलॉजी में है। जैसे, आम तौर पर टीकों के परीक्षण और परिवहन के दौरान अत्यन्त कम तापमान की ज़रूरत होती है जिसके लिए तरल नाइट्रोजन का उपयोग करना पड़ता है। लेकिन टार्डिग्रेड्स के बारे में समझ के आधार पर टीकों को सुखाकर सामान्य तापमान पर भण्डारित किया जा सकेगा।

कोकिल चौधरी: *संदर्भ* पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: सुशील जोशी: *एकलव्य* द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

— — — — —

इस बार का सवाल

सवाल: जब पत्तियाँ हरी होती हैं तो फूलों और फलों में लाल, पीले, नारंगी, कत्थई, नीले रंग कहाँ से आ जाते हैं और क्यों? और फल जब कच्चे होते हैं तो हरे होते हैं पर पकने के बाद उनका रंग क्यों बदल जाता है?

- मानवी मुले, कक्षा 1, सेमिरिटन स्कूल, होशंगाबाद

इस सवाल के बारे में आप क्या सोचते हैं, आपका क्या अनुमान हैं, क्या होता होगा? इस सवाल को लेकर आप जो कुछ भी सोचते हैं, सही-गलत की परवाह किए बिना लिखकर हमें भेज दीजिए। सवाल का जवाब देने वाले पाठकों को *संदर्भ* **की तीन साल की सदस्यता उपहार स्वरूप दी जाएगी।**

वायरस से संक्रमित मधुमक्खियाँ सामाजिक दूरी का पालन करती हैं

यदि हम आसपास नज़र दौड़ाएँ तो षटकोणीय आकार के आपस में सटे हुए कमरों वाले मधुमक्खी के छत्ते आसानी-से दिखाई दे जाएँगे। किसी वायरस का संक्रमण अगर मधुमक्खी की इस घनी बसाहट में पहुँच जाए तो तबाही नहीं मच जाएगी क्या?

कुछ शोधकर्ताओं ने मधुमक्खियों में फैलने वाले वायरस संक्रमण के सन्दर्भ में कुछ जाँच-पड़ताल की है। उदाहरण के लिए, इज़राइली अक्यूट पेरेलिसिस वायरस के संक्रमण के अध्ययन से पता चला है कि मधुमक्खियाँ वास्तव में संक्रमण को रोकने के लिए सामाजिक दूरी का पालन करती हैं।

अध्ययन में पाया गया कि बसाहट के अन्दर संक्रमित मधुमक्खियों के साथ सम्पर्क कम रहता है, जबकि असंक्रमित मधुमक्खियाँ हमेशा की तरह साथियों के साथ सम्पर्क व मिल-जुलकर करने वाले काम करती दिखती हैं, विशेष तौर पर मुँह-से-मुँह के ज़रिए भोजन का आदान-प्रदान।

RNI No.: MPHIN/2007/20203

प्रकाशक, मुद्रक, अरविन्द सरदाना की ओर से निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन,
जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 023 (म.प्र.) द्वारा
एकलव्य से प्रकाशित तथा भण्डारी ऑफसेट प्रिंटर्स, ई-3/12, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462 016 (म.प्र.) से मुद्रित, सम्पादक: राजेश खिंदरी।